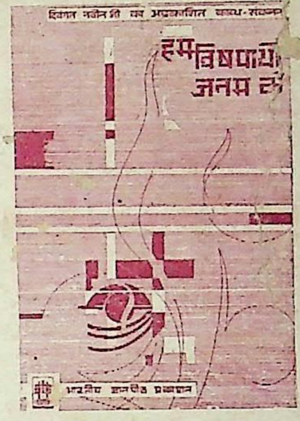
दिवंगत नवीन जी का अप्रकाशित काव्य-संकलन
हम विषपायी जनम के
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

[illegible]

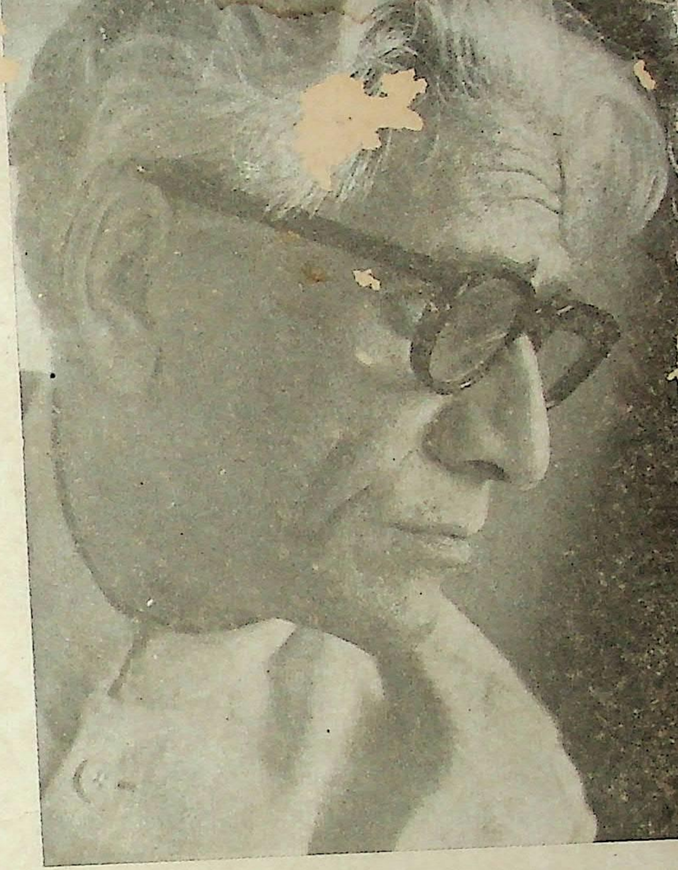

नवीन जी

जन्म : ८ दिसम्बर १८९७

निधन : २९ अप्रैल १९६०.

समर्पण

•

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की स्मृतिमें, उनकी चौथी निधन-तिथि, (२९ अप्रैल १९६४) के अवसरपर उनका यह काव्य-संकलन प्रकाशित हो रहा है। संकलनका नाम 'नवीन' जीके एक प्रसिद्ध दोहेके अंशपर आधृत है :

हम विषपायी जनम के, सहे अबोल कुबोल

लगा, कि दोहेका यह चरण 'नवीन' जीके व्यक्तित्वकी गरिमा, औघड़पन, साधना और समर्पणको झलकाता है। सामर्थ्यका स्वामी रुद्र ही विषपायी हो सकता है, जिसके गलेमें अहि-माल है और मस्तकपर चन्द्रमाकी कला; जो विप्लव और संहारको सृजनकी भूमिका बनाता है और जो नटराज है। सुधा-पान छोड़कर जो विष-पानका वरण करते हैं, वही कह सकते हैं :

ठाठ फ़क़ीराना है अपना, बाघम्बर सोहे अपने तन

यह संकलन जब गुप्तजी (श्री मैथिलीशरण गुप्त) और 'एक भारतीय आत्मा' (श्री माखनलाल चतुर्वेदी) के हाथमें पहुँचेगा, तब क्या शलाकापुरुषोंका एक ज्वलन्त युग जिसके निर्माणमें स्वयं सहयोगी है उनकी कल्पनामें साकार न हो उठेगा ? वह विकल हो उठेंगे कि बलि-दानियोंके अग्रणी श्री गणेशशंकर विद्यार्थी नहीं रहे, और सहकर्मी, सहधर्मी नवीनजी भी नहीं रहे ! याद आयेंगे दिसम्बर १९१६ के वे दिन जब लखनऊ काँग्रेसके अवसरपर इन चारोंमें-से इस एकने अपनी क़लमको और अपने स्वप्नोंको राष्ट्रके प्रति समर्पित किया था, और शेष तीनने समर्पण-यज्ञके लिए यह 'नवीन' समिधा पायी थी !

राष्ट्रीय जागरणके इतिहासमें साप्ताहिक 'प्रताप' यदि गणेशशंकर विद्यार्थीका कीर्ति-मन्दिर है, तो 'नवीन' जी उसके आधारवाही स्तम्भ। ज्वालाओंके उस युगमें आहुतियोंकी ही होड़ थी। 'नवीन' सौभाग्यवान् थे कि उनको गणेशशंकरके हाथों विषपानकी दीक्षा मिली, और इसलिए

वह अन्त तक विषपायी ही रहे। सुधापानके छलावेने अन्त तक उन्हें मोह-ग्रस्त नहीं किया :

यों शूलयुक्त, यों अहि-आलिंगित जीवन

इस प्रस्तुत संकलनकी एक आत्म-परक रचना है।

नवीनजीने यद्यपि सन् १९१७ से नियमित लेखन प्रारम्भ कर दिया था, उनका पहला कविता संग्रह, 'कुंकुम' सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ, किन्तु कवि-रूपमें नवीनजीकी ख्याति प्रतिष्ठित हो चुकी थी। राष्ट्रीय आन्दोलनके तूफ़ानी दिनोंमें माथा ऊँचा करके, सीना तानकर, मुट्ठियाँ बाँधकर नवयुवक गाया करते थे :

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये
एक हिलोर उधर से आये, एक हिलोर इधर से आये

और, जब असहयोग आन्दोलनको अचानक समाप्त कर दिया गया, तब बलिदानियोंके आहत अभिमानको और राष्ट्रकी हताश, सिर-धुनती लौको नवीनजीने वाणी दी :

आज खड्ग की धार कुण्ठिता, है ख़ाली तूणीर हुआ !

१९३६ के बाद, सन् १९५१ में नवीनजी के दो कविता-संग्रह प्रकाशित हुए : 'रश्मि रेखा' तथा 'अपलक' १९५२। में 'क्वासि', १९५५ में 'बिनोवा स्तवन' और १९५७ में 'उर्मिला' खण्ड-काव्यके प्रकाशनके बाद कोई नया संग्रह प्रकाशित नहीं हो पाया। उक्त छह संग्रहों में, कुंकुम-क्वासि कालकी रचनाओंका समय १९३६ से १९५२ तकका है।

प्रस्तुत संकलन, 'हम विषपायी जनम के' में नवीनजीकी वे रचनाएँ सम्मिलित हैं जो संग्रह रूपमें अप्रकाशित हैं या कुंकुम-क्वासि कालके बादकी सर्वथा नयी रचनाएँ हैं। यह संकलन कवि नवीनका सर्वांगीण प्रतिनिधित्व प्रस्तुत करता है।

नवीनजीको जब पक्षाघात हो गया तो उनकी बीमारीके दिनोंमें साहूजी (श्री शान्तिप्रसाद जैन) कई बार उनसे मिलने गये। एक बार जब मैं भी साथ था, तो नवीनजीने संकेतों और सायास निर्मित शब्दोंमें भारतीय ज्ञानपीठके प्रकाशनोंकी सराहना की, आशीर्वाद दिया। तभी श्रीमती सरलाजीने बताया कि नवीनजीने बीमारीके दिनोंमें अपनी अप्र-काशित कविताओंके संग्रह और संकलनका काम प्रारम्भ किया है और

यदि इनका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठसे हो तो नवीनजीको प्रसन्नता होगी। ज्ञानपीठके लिए यह प्रस्ताव गौरवका था।

वास्तवमें नवीनजीने इन कविताओंको छह विभिन्न संग्रहोंके रूपमें नियोजित किया था और संग्रहोंके शीर्षक स्वयं निश्चित किये थे : १. सिरजनकी ललकारें, २. नवीन दोहावली, ३. यौवन-मदिरा, ४. प्रलयंकर, ५. स्मरण-दीप, ६. मृत्यु-धाम।

छहों संग्रहोंका स्थूल रूप निश्चित कर देनेके बाद, कविताओंका संकलन प्रारम्भ हुआ : पत्रोंकी कतरनों और पुरानी फ़ाइलोंकी प्राप्ति, हस्तलिपियोंकी खोज, पत्र-व्यवहार आदिमें बहुत समय लगा। नवीनजीके सामने ही बहुत अंशोंमें यह कार्य पूरा हो गया था किन्तु उनके निधनके बाद भी प्रयत्न चलता रहा कि संग्रह अधिकसे-अधिक पूर्ण हो। कई विश्वविद्यालयोंके हिन्दी विभागोंने डॉक्टरेटकी थीसिसके लिए विद्यार्थियोंको नवीनजीकी काव्य कृतियोंके अध्ययनकी स्वीकृति दी। भारतीय ज्ञानपीठने शोधार्थियोंको पाण्डुलिपियोंके अध्ययनकी सुविधा दी तो संग्रहोंको पूर्णता देनेके सुझाव भी पाये। सागर विश्वविद्यालयके प्राध्यापक श्री लक्ष्मीनारायण दुबेने इस दिशामें विशेष प्रयत्न किया। 'ज्ञानपीठ पत्रिका'में इन संकलनोंके परिचयमें कहा गया है :

" 'सिरजन की ललकारें' को कविने एक सह-शीर्षक 'नूपुर के स्वन' भी दिया है। ये दोनों शीर्षक, संग्रहकी प्रमुख और सबसे लम्बी कविताओं 'सिरजन की ललकारें मेरी' और 'आये नूपुर के स्वन झन-झन' की ओर संकेत करते हैं। 'सिरजनकी ललकारें मेरी' लगभग ३० पृष्ठकी कविता है जो महात्मा गान्धी और उनके विचारों तथा हिंसा-अहिंसाके द्वन्द्व आदिको प्रस्तुत करती है। यह अत्यन्त वेगपूर्ण तथा चिन्तनपरक रचना है। 'आये नूपुर के स्वन झन-झन' में शृंगारका आध्यात्मीकरण है।

समग्र रूपमें, यह संग्रह नवीनजीकी दार्शनिक रचनाओंका संकलन है। कवि कभी लौकिकसे अलौकिककी ओर उन्मुख हुआ है और कभी अलौकिकसे लौकिककी ओर आया है।

'नवीन दोहावली' के माध्यमसे नवीनजीका एक ऐसा रूप सामने आता है जो अभीतक हिन्दी-जगत्‌को ज्ञात नहीं हो सका है। १९ शीर्षकोंके अन्तर्गत इस संग्रहमें कुछ खड़ी बोलीके, अधिकांश ब्रजभाषाके दोहे हैं। संग्रहका रचना-काल १९३०–१९४६ है, और अधिकांश

रचनाएँ बरेली कारागृहकी लिखी हुई हैं। विषयकी दृष्टिसे संग्रहमें श्रृंगार तो है ही, इसके अतिरिक्त आध्यात्मिकता, दार्शनिकता, प्रार्थना तथा मनुहार-भावकी भी सशक्त अभिव्यक्ति है।

तीसरे संग्रह, 'यौवन मदिरा' को कविने एक और शीर्षक 'पावस-पीड़ा' भी दिया है। दोनों शीर्षक दो कविताओंके हैं जो संग्रहकी प्रमुख रचनाएँ हैं। 'यौवन मदिरा' में प्रवृत्ति-निवृत्तिका संघर्ष निरूपित है और 'पावस-पीड़ा' में प्रणयकी प्रधानताका स्वर मुखरित हुआ है। संग्रहका रचना-काल १९३०–१९३६ है और अधिकांश रचनाएँ गाज़ीपुर जेलकी लिखी हुई हैं। कृतिमें लघु प्रेम-कविताएँ संकलित की गयी हैं। प्रेममें संयोग तथा वियोग दोनोंके चित्र प्राप्त होते हैं, पर प्रधानता विप्रलम्भ श्रृंगारकी है।

'प्रलयंकर' शीर्षक चौथे संग्रहका नाम 'तू विद्रोह रूप प्रलयंकर' कवितासे आया है जो अत्यन्त ओजस्वी रचना है। संग्रहका लेखनकाल १९३०-१९५५ है और रचनाएँ अधिकतर बरेली कारागृहकी लिखी हुई हैं। पाण्डुलिपिके इस खण्डमें कतिपय कविताएँ कविकी हस्तलिपिमें ही उपलब्ध हैं। नवीनजीकी राष्ट्रीय कविताओंके इस संकलनमें कविका आक्रोश, हुंकार, ओज तथा विप्लव-आह्वान मुखरित हैं। राष्ट्रकी युगीन चेतनाको सर्वाधिक प्रखर वाणी इसी संग्रहकी रचनाओं-द्वारा मिली है।

'स्मरण-दीप' नवीनजीका पाँचवाँ अप्रकाशित काव्य-संग्रह है जिसका नामकरण 'मेरे स्मरण-दीप की बाती' शीर्षक कवितापर आधारित है। संग्रहका रचना-काल १९३८-१९५४ है और इसमें बरेली कारागृहमें लिखित कविताओंका आधिक्य है। संकलनमें वियोगावस्थासे उद्भूत अनुभूतियोंकी प्रधानता है, विप्रलम्भ श्रृंगारके सर्वतोमुखी चित्र उतारे गये हैं और मनुहार प्रतीक्षाको वाणी मिली है।

अन्तिम संग्रह 'मृत्यु-धाम' को कविने दूसरा शीर्षक 'सृजन झाँझ' भी दिया है। दोनों शीर्षक मूलमें संग्रहकी दो कविताओं 'कैसा है मृत्यु-धाम' और 'सृजन की झाँझ' के हैं। संग्रहका रचना-काल १९४१-१९४२ है और प्रमुखतः ये रचनाएँ नैनी जेलमें ही लिखी गयीं। वास्तवमें यह संकलन कविके 'प्राणार्पण' शीर्षक अप्रकाशित खण्डकाव्यकी 'पंचम आहुति' के गीतोंसे सम्बन्ध रखता है जिसे यहाँ पृथक् संग्रहके रूपमें दिया गया है। ये गीत सभी रहस्य-परक और दार्शनिक हैं जिनमें मृत्युको काव्यका

विषय बनाया गया है और जो अभीतक प्रकाशमें नहीं आये थे।"

इस प्रकार यह संकलन नवीनजीके काव्यकी विविधता और बहुरंगी छटा प्रस्तुत करता है : प्रलयकी गर्जना और शीष-दानकी चुनौती; प्रणयका आह्वान और दान-प्रतिदान, वियोगकी आकुल व्यथा और मनुहारकी माधुरी, चिन्तनकी गहराई और रहस्यकी दार्शनिक अभिव्यक्ति, जीवनका समर्पण और मृत्युका वरण। इस कृतित्वकी महत्ताके परिप्रेक्ष्यमें कविके जीवनकी सफलता-असफलताका प्रश्न गौण है। फिर सफलताका मान-दण्ड क्या ?

जब 'नयी सफलता' के गज़ से
हम निकले असफल लासानी,
जग मार ठहाका ख़ूब हँसा,
हम भी मुसकाये मस्ताने।

इस संवेदनशील औघड़दानीको प्रतीति थी कि जीवनमें देना ही देना सार्थक है; मनचाहा पाना जब सम्भव ही नहीं तो उसकी तृष्णा वृथा है :

कूज़े दो कूज़े में बुझने वाली मेरी प्यास नहीं
बार-बार ला! ला! कहने का समय नहीं, अभ्यास नहीं।

इसी २९ अप्रैल को कविकी निधन-तिथिके चौथे श्रद्धार्पण दिवसके उपलक्ष्यमें उक्त छहों संग्रह 'हम विषपायी जनम के' शीर्षकके अन्तर्गत प्रकाशित हो रहे हैं।

ग्रन्थके प्रकाशनोत्सवके अवसरपर स्वर्गीय नवीनजीके प्रति ज्ञानपीठकी यह विनम्र श्रद्धाञ्जलि निवेदित है।

हमें प्रसन्नता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन, संविधान-निर्माण और संसद-भवनमें नवीनजी के सहयोगी और साथी, केन्द्रीय सरकारके मन्त्री श्री लालबहादुरजी शास्त्रीके हाथों इस ग्रन्थका समर्पणोत्सव सम्पन्न हो रहा है।

—लक्ष्मीचन्द्र जैन

संकेतिका

सिरजन की ललकारें

१. बयालीसवें वर्षान्त में	....	३
२. व्यवहारवादिता	....	७
३. एकाकीपन	....	८
४. क्यों थके तन ? क्यों थके मन ?	....	११
५. क्या मैं कर सकता हूँ कृत को अकृत ?	....	१३
६. प्रिय, बल दो	....	१५
७. नैशयाम कल्पमान	....	१७
८. मेरे मन	....	१९
९. द्वन्द्व समुच्चय	....	२१
१०. निज ललाट की रेख	....	२२
११. दुराव	....	२७
१२. वृकोदरी ज्वाला	....	२९
१३. पिंजर मुक्ति-युक्ति	....	३०
१४. यों शूल-युक्त यों अहि-आलिंगित है जीवन	....	३२
१५. करुणा-घन	....	३६
१६. हे ज्योतिर्मय	....	३८
१७. नौका-निर्वाण	....	३९
१८. दोलाचल वृत्ति	....	४२
१९. उड़ चला	....	४५
२०. सिरजन की ललकारें मेरी !	....	४६
२१. बोल अरे दो पग के प्राणी	....	८४
२२. यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन	....	८८
२३. नास्तिक का आधार	....	१०३
२४. यथार्थवादी	....	१०४
२५. तुम हो ?	....	१०५

२६. सुन्दर ११७
२७. सूना सब संसार हुआ है १२०
२८. राजेश्वर मानव १२१
२९. भूल-भुलैया १२९
३०. कस्त्वं ? कोऽहं ? १३३
३१. कार्य-कारण-शून्यता १५८
३२. जीवन-प्रवाह १६२
३३. मानव की क्या अन्तिम गति-विधि ? १६८
३४. धधक उठो, अब ओ वैश्वानर १७४
३५. धरती के पूत १८१
३६. आये नूपुर के स्वन झन-झन १८३
३७. यह है द्वापर, यह है द्वापर १९०
३८. है निज वश तन, पूर्ण स्ववश मन ! १९२
३९. विनिपात १९४
४०. अर्ध नारी नट २०६

नवीन दोहावली

१. यह प्रवास आयास २१३
२. प्राप्ति २१३
३. सतत प्रवासी २१५
४. नैना २१७
५. अनुरोध २१९
६. संशय-दैन्य २२१
७. घाव २२२
८. मेरे प्राणाधिक २२३
९. अपनी-अपनी बाट २२४
१०. नैया २२५
११. पहेली मानव २२६
१२. अनवाप्त २२९
१३. राग-विराग २३०
१४. हंसिनि उड़ी आकास २३१

१५. पिंजर-बद्ध नाहर २३३
१६. पै न ढरे घनश्याम २३४
१७. उपालम्भ २३५
१८. प्रतीक्षा २३५
१९. कितै तिहारो देश ? २३७

पावस पीड़ा

१. तीर-कमान २४१
२. असमर्थ २४२
३. परीक्षा के प्रश्न-पत्र २४३
४. टूटी वीणा २४३
५. प्रज्वलित वह्नि २४४
६. सूखे आँसू २४७
७. नारी २४८
८. प्यास २४९
९. तव मृदु मुसकान, प्राण २५२
१०. शरद-निशा २५३
११. आज हुलसे प्राण ! २५४
१२. स्वगत २५६
१३. घुन २५८
१४. फागुन २५९
१५. साक़ी ! २६१
१६. सो जाने दो २६३
१७. आवृत २६४
१८. विश्व-व्यापी २६५
१९. तुम्हारा पनघट २६६
२०. जाह्नवी के प्रति २६८
२१. प्रश्नोत्तर २६९
२२. पत्र-व्यवहार २७१
२३. उन्माद !!! २७४
२४. आकुल की उपासना २७६

२५. दीप-माला २७७
२६. यौवन मदिरा २७८
२७. अरी धधक उठ !!! २८३
२८. थकित प्रतीक्षा २८४
२९. आगमन की चाह ! २८५
३०. जाने पर २८६
३१. छेड़ो न २८६
३२. प्रणय-लय २८८
३३. श्रान्त २८९
३४. वह सुप्त अश्रुत राग २९१
३५. भिखारी २९२
३६. निवेदन २९३
३७. कह लेने दो २९६
३८. सजन मेरे सो रहे हैं २९८
३९. ओ प्रवासी २९९
४०. लिख विरह के गान ३००
४१. गीत ३०२
४२. मान कैसा ? ३०३
४३. कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ? ३०४
४४. कुहू की बात ३०५
४५. बन्धनों की स्वामिनी तुम ३०६
४६. वसन्त ३०७
४७. संस्मरण-नोदना ३०९
४८. क्या ३१२
४९. बसन्त-बहार ३१३
५०. मिल गये जीवन-डगर में ३१५
५१. हिय-रार मेरी ३१६
५२. आओ ३१७
५३. अस्तित्व मेरा ३१९
५४. किर-किरी ३२१
५५. पार्थिव ३२२
५६. बुझ चली ३२४

५७. काँव ! काँव !! ३२६
५८. छोटे की स्मृति में ३२७
५९. मिलन साध यह इतनी क्यों ३३०
६०. पहेली ३३१
६१. वसन्त ३३२
६२. मन्द ज्योति ३३८
६३. घनश्याम ३३९
६४. पावस-पीड़ा ३४०
६५. ओ मुरली वाले ३४१
६६. तड़पन ३४२
६७. मनोरथ ३४३
६८. पन्थ ३४४
६९. डुबकी ३४५
७०. मत तोड़ो गहरा सपना ३४६
७१. पुकार ३४७
७२. अज्ञान ३४८
७३. स्थिति वैचित्र्य ३४८
७४. रून्-झुन ३४९
७५. कुण्डल ३५०
७६. वह बाँकी झाँकी ३५१
७७. माँग ३५३
७८. मेरी टूटी गाड़ी ३५५
७९. घड़ियाल बजाने वाले ३५६
८०. पत्र ३५६
८१. किमिदम् ३६१
८२. फिर से ३६२
८३. एक घूँट ३६४
८४. ऊजड़ धाम ३६५
८५. व्याकुल ३६६
८६. भोली मूरत ३६७
८७. वेणी ३६८
८८. एकाधिपत्य ३७०

८९. कृपाकोर ? ३७१
९०. पान ३७३
९१. पिला दो ३७४
९२. नाविक ? ३७६
९३. बढ़े चलो ३७७
९४. दिवाली ३७७
९५. नहीं-नहीं ३७८
९६. ढुल-मुल ३७९
९७. उस पार ३८२
९८. भ्रम-जाल ३८४
९९. निमन्त्रण ३८७
१००. दीवानी लगन ३८८
१०१. सिंगार ३८८
१०२. पराजय ३९०
१०३. बिंदिया ३९२
१०४. निद्रोत्थित नेह ३९५
१०५. आँसू के प्रति ३९६
१०६. खोज ३९८
१०७. तुम्हारे सामने ३९९
१०८. प्यासा ४००
१०९. चिन्ता ४०१
११०. दुपहरी ४०३
१११. उस दिन ४०५

प्रलयंकर

१. अदृष्ट चरण-वन्दना ४०९
२. भरत खण्ड के तुम हे जन गण ! ४१०
३. गरजे मेरे सागर पहाड़ ४११
४. तू विद्रोह रूप, प्रलयंकर ! ४१३

५. गरल पियो तुम ! गरल पियो तुम	....	४१५
६. पथ निरीक्षण	....	४१८
७. भैरव नटनागर	....	४२०
८. मर-मर हम फिर-फिर उठ आये	....	४२२
९. पराजय गीत	....	४२३
१०. अग्नि-कायर-संवाद	....	४२५
११. शिखर पर	....	४२६
१२. १९३०वें वर्ष की समाप्ति पर	....	४२७
१३. विप्लव गायन	....	४२९
१४. बसन्त	....	४३१
१५. तन-मन से तुमको प्यार किया	....	४३२
१६. हम अलख निरंजन के वंशज	....	४३३
१७. सम्भाषण	....	४३५
१८. उत्सीदेयुरिमे लोकाः	....	४३६
१९. क्यों रोते हो, यार ?	....	४३७
२०. खिचड़ी	....	४३९
२१. क्रान्ति ?	....	४४०
२२. अनल गान	....	४४१
२३. हे क्षुरस्य धारा पथगामी	....	४४४
२४. ओ, सदियों में आनेवाले !	....	४४५
२५. मस्त रहो	....	४५४
२६. विष-पान	....	४५६
२७. नरक-विधान	....	४५९
२८. एक बार तो देख	....	४६१
२९. घूँट हलाहल	....	४६२
३०. अपना मृदु गोपाल	....	४६३
३१. कारा में सातवीं श्रावणी रक्षा पूर्णिमा	....	४६४
३२. राखी की सुध	....	४६६
३३. आज क्रान्ति का शंख बज रहा	....	४६७
३४. विद्रोही	....	४८०
३५. सुनो, सुनो, ओ सोने वालो !	....	४९०
३६. जूठे पत्ते	....	४९३

३७. गहन तमिस्रा की परिखा ४९५
३८. ओ तुम अविचल वीर ! ४९६
३९. कमला नेहरू की स्मृति में ४९७
४०. मन्द ज्योति ४९९
४१. यह है विप्लव का पथ, भाई ४९९
४२. मेरे अतीत की ज्योति-लहर ५०१
४३. ओ तुम मेरे प्यारे जवान ! ५०८
४४. अरे तुम हो काल के भी काल ५११
४५. ये आये ये आये ! ! ५१३
४६. ऐसा क्या हमें अधिकार ? ५१४
४७. क्या पर-वश, डगमग-पग-मानव ? ५१५
४८. मेरे साथी अज्ञात नाम ५१७
४९. नरक के कीड़े ५२०
५०. चिन्ता ? ५२३
५१. सैनिक, बोल ! ५२५
५२. ओ मज़दूर किसान, उठो ५२९
५३. अरी धधक उठ ५३३
५४. गड़गड़ाहट गगन-भर में ५४०
५५. दग्ध हो रहे हैं मेरे जन ५४२

स्मरण दीप

१. पधारो अमराई में आज ५४७
२. मेरे स्मरण-दीप की बाती ५४८
३. घन-गर्जन-क्षण ५५०
४. विहँस उठो प्रियतम तुम ५५१
५. फिर वहीं ५५३
६. प्रिय, लो डूब चुका है सूरज ! ५५४
७. ओ मेरे मधुराधर ५५५
८. उमँगे सावन के धाराधर ५५६
९. केन्द्र, बिन्दु ५५८
१०. क्या बतलायें रोने वाले ५६०

११. स्मरण-विहंगम	....	५६१
१२. ज्वाल-पौन-हाहाकार	....	५६३
१३. द्विधा लोप	....	५६४
१४. यात्रा पथे	....	५६५
१५. तुम मेरी आँखों की पुतली	....	५६६
१६. रोको, हे, रोको	....	५६९
१७. आकांक्षा का शव	....	५७०
१८. अंगारों की झड़ियाँ	....	५७१
१९. विस्मरण-खेल	....	५७२
२०. ओ हिरनी की आँखों वाली	....	५७३
२१. कितनी दूर पधारे हो	....	५७५
२२. वे क्षण	....	५७६
२३. हम परित्याग के आदी हैं	....	५७७
२४. लो यह नाता टूट रहा है	....	५७८
२५. प्रिय, मैं आज भरी झारी-सी	....	५८०
२६. तुम हँसते से प्राण	....	५८२
२७. कौन-सा यह राग जागा?	....	५८३
२८. आराइयाँ	....	५८४
२९. मृतिका की गुड़ियों के गीत	....	५८५
३०. कवि जी !	....	५८७
३१. दुई का सोच	....	५९०
३२. मेरे अम्बर में निपट अँधेरा छाया	....	५९२
३३. अब यह रोना-धोना क्या ?	....	५९४
३४. फिर आ गयी दीवाली	....	५९५
३५. गागर में सागर	....	५९५
३६. काग़ज़ की नाव	....	५९७
३७. मैं निज भार वहन कर लूँगा	....	५९८
३८. विनय	....	५९८
३९. गभीर भेद का भरम	....	६००
४०. बहुरंगी	....	६०१
४१. प्यार बना मेरा अभिशाप	....	६०२
४२. तुम हो गये पराये	....	६०३

४३. विचलित विश्वास ६०५
४४. सन्ध्या आरती ६०८
४५. नयन-निमन्त्रण ६०९

मृत्यु-धाम

१. कैसा है मृत्यु-धाम ? ६१३
२. कैसे निशि के सपने ? ६१४
३. क्या है यह अन्धकार ? ६१६
४. कैसा मरण-सँदेसा आया ? ६१७
५. मृत्यु-बन्ध ६१८
६. जग में महा मृत्यु की फाँसी ... ६१९
७. क्या तुम जाग रहे हो, प्रहरी ? ६२१
८. भाई, आज बजी शहनाई ६२२
९. चेतन भी मृण्मय है ६२४
१०. झाँक सके आर-पार ? ६२६
११. मरघट-घाट ६२७
१२. प्रश्नोत्तर ६२९
१३. मिट गये हैं चित्र मेरे ६३२
१४. यह प्याला मैं पी न सकूँगा ६३४
१५. गहन, सघन अन्धकार ? ६३५
१६. पहेली ६३७
१७. अविरल चेतना की धार ६३८
१८. सृजन झाँझ ६४०
१९. हमारे साजन की अजब अदा ६४१

■

हम विषपायी
जनम के

*

सिरजन की ललकारें

समग्र रूप में नवीनजी की दार्शनिक
कविताओं का संग्रह

*[संग्रह को कवि-द्वारा एक वैकल्पिक शीर्षक
'नुपूर के स्वन' भी दिया गया है]*

बयालीसवें वर्षान्त में

(अग्नि-दीक्षा काल में)

पूछा सन्ध्या ने आज : कवे !
हम शोक मनायें या कि हर्ष ?
तुम आज कर रहे हो पूरे
चालीस और दो अधिक वर्ष,
यह बयालीसवाँ वर्ष आज
अस्तंगत रवि के साथ चला,
बोलो, किन भावों को लेकर
आयेगी कल ऊषा चपला,
जीवन के इतने वर्ष बने
धुँधली स्मृतियों के पुंज रूप,
हे कवि ! क्या देखो हो इनमें
तुम कुछ कुछ अपनापन अनूप ?

मैंने अवलोका सान्ध्य-क्षितिज,
मैंने अवलोका अपने को,
इतने वत्सर पूरे करते,
देखा जीवन के सपने को;
हो चला कालिमा से मण्डित
सन्ध्या-नभ जो था लाल-लाल,
पर दिङ्मण्डल पर दिखा पूर्ण-
निशिपति हँसता उन्नत, विशाल,

मैंने सन्ध्या से कहा : देवि !
मेरे जीवन की धूप-छाँह,
है हर्ष-शोक से परे आज
है बहुत दूर मेरी निगाह।

ओ बयालीसवें वत्सर की
मेरी उत्सुक झुटपुटी साँझ !
है स्तब्ध आज इस जीवन की
मादक गम्भीर मृदंग, झाँझ;
गाये हैं मैंने गीत कई
रोने रोये हैं कई-कई,
हर सुबह और हर साँझ उठी हैं
दिल में टीसें नयी-नयी,
क्यों देखूँ मैं पीछे मुड़कर
जीवन का ऊसर, विशद-क्षेत्र,
हे साँझ ! आज आगे को हैं
मेरे ये उत्सुक युगल नेत्र।

मेरा अतीत है महा-काव्य
दुर्बल मानव-क्रीड़ाओं का,
मेरा अतीत है एक पुंज :
हिय की गहरी पीड़ाओं का,
हैं रहे स्वप्न मम चिर संगी,
संगिनियाँ रहीं निराशाएँ,
जीवन-नद में जल-बुद्बुद-सी,
बन बिगड़ीं मम अभिलाषाएँ,
पर सन्ध्ये ! आज निरिन्द्रिय औ'
निर्देह-भाव की चाह जगी,

कुछ-कुछ रहस्य-उद्घाटन की
हिय में यह नूतन लगन लगी।

यह जो कहलाता है असीम :
क्या है सचमुच सीमान्त हीन ?
जिसको विमुक्त कहते हैं वह :
क्या है वास्तव में निज अधीन ?
यह जो अनन्त-अम्बर है वह :
क्या है इति-शून्य, अशेष-लीन ?
अक्षर क्या सचमुच ही न कभी
होता है किंचिन्मात्र क्षीण ?
जग रहीं आज ये युग-युग की
प्रश्नावलियाँ अलसायीं-सी,
तड़पन, ऐसी यह जिज्ञासा
उठ रही आज बल खायी-सी

मेरे जीवन की सन्ध्या की
झुटपुट अँधियारी उमड़ रही,
मेरे नयनों में भी तो यह :
अब ज्योति-क्षीणता घुमड़ रही,
तन में थकान अनुभूत हुई,
मन में शैथिल्याभास हुआ,
ऐसी घड़ियों में इस शाश्वत
जिज्ञासा का सुविकास हुआ,
परदे के पीछे क्या है, यह
उस समय देखने की सूझी,
जब ख़त्म हो चली है मेरी
हस्ती की शारीरिक पूँजी।

चेतना-लता में लय-भव के
क्यों सुमन फूलते रहते हैं ?
क्यों जन्म-मरण के झूले में
ये प्राण झूलते रहते हैं ?
ये पूर्ण-पुरातन प्रश्न-चिह्न,
ये चिर जाग्रत ये चिर नवीन,–
मेरे मानस-पट पर उभरे
फिर से ये पूर्ण रहस्य-लीन,
इन प्रश्नों की उत्सुकता का
मैं आज बना हूँ पुंजरूप,
दे दो तो उत्तर धीरे से
तुम ओ मेरी सन्ध्ये अनूप।

इच्छा तो है : मैं खोल सकूँ
यह भीम भयानक मृत्यु-द्वार,
इच्छा यह है : मैं झाँक सकूँ
इस घनावरण के आर-पार,
उड़ चले आज मम राज-हंस,
सीमान्त गगन का वक्ष चीर,
अम्बर काँपे, कुछ भेद खुले,
कुछ छलक उठे नभ-गंग नीर,
अनुमान ज्ञान की नहीं, आज
प्रत्यक्ष ज्ञान की प्यास मुझे,
देखूँ किस क्षण इस जीवन में
वह नीर-पान कर स्वयं बुझे ?

श्री गणेश-कुटीर, कानपुर
४३वीं वर्षगाँठ,
मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा, १९९६
२६ दिसम्बर, १९३९

व्यवहारवादिता

इस जीवन की गहराई को झुककर कोई क्यों झाँके ?
इक दमड़ी की ऊँची-ऊँची क़ीमत कोई क्यों आँके ?
इतनी साँस, उसाँसें इतनी क्यों यों कोई नष्ट करे ?
कैसा हिय ? हियहरण कौन-सा ? हैं ये झंझट दुनिया के !

नर क्या है ? जीवन-विकास का एक चपल, चल विभ्रम है।
नारी क्या है ? प्राणि-शास्त्र का केवल एक तुच्छ क्रम है !!
क्या है हृदय ? भावना क्या है ? ये सब हैं अपवाद निरे;
जीवन इक हू-हू चिड़िया हैं ! यह सब व्यर्थ परिश्रम है !!

कैसा नाता-रिश्ता, बन्दे ? मुँह देखे की प्रीति यहाँ;
बस, आँखों की लाज निभाना, यही रही है रीति यहाँ;
पीठ फिरी तो बन्द हो गये अपनों के भी द्वार सभी;
तुम नवीन, अब तक न रंच भी समझ सके यह नीति यहाँ ?

तुम इस रीति-नीति को समझो, मन में करो न खेद अरे;
इस जग में व्यवहार सदा ही होते हैं यों भेद-भरे;
लख-लख यह लीला दु:शीला क्यों तव लोचन भर आयें ?
क्यों तव चिन्तन-मग्न भाल से बूँद-बूँद प्रस्वेद झरे ?

कहाँ तुम्हारे ललित मनोरथ ? वे तो तिमिर-विलीन हुए ?
कहाँ तुम्हारे प्राण-पिरीते ? वे सब तेरह-तीन हुए;

सभी मस्त हैं अपनी धुन में, किसको किसका ध्यान यहाँ ?
एक तुम्हीं हो जो कि व्यर्थ में यों चिर चिन्ता क्षीण हुए !

अतल-वितल-पाताल-सदृश है जीवन कहो, कहाँ गहरा ?
मत झाँको इतने गहरे से ! वह तो इक बुद्‌बुद ठहरा !
ख़ूब जानते हैं, न करोगे तुम विश्वास रंच हम पर;
पर, तुम अपनी दशा निहारो, देखो तो अपना चेहरा !

तुमने सदा झाँक-झुक देखी इस जीवन की गहराई;
तुमने सदा अतल की ऊँची ये लहरें हैं लहरायी;
हमने कहा : किनारे खेलो ! पर तुम गहरे पैठ चले !
लो, अब श्रवणों में अर्णव की भैरव गूँज घहर आयी !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
७ नवम्बर, १९४३, रात्रि

■

एकाकीपन

त्रिभुज रूप बक पंक्ति चली यह
इस विस्तृत नीले अम्बर में,
मानो त्रिगुण-कल्पना पैठी,
चिर चिन्तन के महदन्तर में;
दुग्ध-धवल नभचर-पंखों पर
बिम्बित नील गगन की झाँई,

मानो किसी नील अंचल में
शुभ्र कुन्द कलियाँ मुसकायीं;
चली बकों की आतुर टोली
गगन चीरती-सी सम गति से,
मानो शाश्वत टोह-भावना
उड़ी छुड़ाकर बाँह नियति से !

मैं थलचारी पूछ रहा हूँ :
कहाँ चले तुम सब, ओ खग-गण ?
ज्यों गमनोन्मुख प्रिय पाहुन से
पूछा करते हैं सुगृही जन !
कौन ताल आये हो तजकर,
ज्यों निर्मोही तजते हैं घर ?
खिंचे जा रहे हो क्यों सर-सर
मानो तुम हो चंग गगन-चर ?
उड़ा रहा है तुम्हें कौन यों ?
है तव सृति-डोरी किसके कर ?
हैं तव पिय भी क्या वैसे ही
जैसे हैं मेरे पिय हिय-हर ?

उड़ते देख गगन में खगगण,
उड़ने की आयी मेरे मन,
सोचा, क्यों न उड़ाऊँ निज तन
जा निरखूँ अपने मनभावन;
जा निरखूँ पिय का मधुरानन
निरखूँ उनके आकुल लोचन,
निज पिय के वे सकरुण सुनयन,
जिनमें विप्रयोग के जल-कण,

पर मैं पंखहीन नित परवश,
दूर बसी साजन की नगरी,
और अनेकों विकट सन्तरी
रोक खड़े हैं मेरी डगरी;

मेरे प्रियतम परम स्नेह-घन,
परम उदार, परम करुणायन;
जिनके चरणों में मम कण-कण
अर्पणहित उत्कण्ठित क्षण-क्षण
मम मन-भृंग गुंजरित सन्तत,
गुन-गुन उनके गुण-गायन रत
सोच-सोच अब वे क्षण सुविगत,
है व्याकुल पुंखित-शर-आहत,
कहाँ पुण्य मन्दिर साजन का,
कहाँ दरस निज जीवन धन का ?
जब आनद्ध बज उठा रण का,
सहसा स्नेह-मनोरथ मन का।

प्रिय, अब फिर कब मुसकाओगे ?
बोलो, सम्मुख कब आओगे ?
मंजुल छवि कब दिखलाओगे ?
अब फिर कब दृग में छाओगे ?
मेरे रण की अवधि अनिश्चित
पर, मम स्नेह-साधना अचलित;
तुम हो देश-काल-पट अपिहित,
तदपि सदा तुम मम हृदय-स्थित;
जीवन में शुभ अवसर आया,
बड़े भाग्य से तुम को पाया,

किन्तु काल की ऐसी माया,
पाकर भी फिर तुम्हें गँवाया।

यद्यपि सन्तत रमे हुए हो,
तुम मेरी शोणित-धारा में;
अष्टयाम ही तुम रहते हो
मेरे संग-संग कारा में,
फिर भी अकुलाता रहता है
मेरा हृदय और मेरा मन,
मैं हूँ सगुण उपासक, मुझको,
कैसे धीरज दे निर्गुणपन ?
सतत तुम्हारा स्मरण, ध्यान ही
है अवलम्ब यहाँ जीवन का,
पर, किमि होगा तव स्मिति-द्युति बिन,
दूर तिमिर एकाकीपन का ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२८ मार्च १९४४

■

क्यों थके तन ? क्यों थके मन ??

थक गया हूँ, विरथ हूँ मैं, है परम विश्रान्तिरत मन;
किन्तु गाता ही रहूँगा मैं भ्रमण के गीत पावन;
यदपि है अति थकित तन-मन।

नित्य गतिमय इस जगत में, यह हृदय की श्रान्ति कैसी ?
बैठने की चाह कैसी ? यह अलस विश्रान्ति कैसी ?
मानवों के पूत, बोलो, श्रान्ति की यह भ्रान्ति कैसी ?
याँ कहाँ विश्राम ? जग का नियम है चंक्रमण क्षण-क्षण ?
यदपि हो अति थकित तन-मन !

भ्रमण-मय है सौर-मण्डल, भ्रमण-रत नक्षत्र-मण्डल;
भ्रमण-मय परमाणु जग के, पर्यटन-मय तेज प्रतिपल;
ये स्वयं दिक्-काल भी हैं पर्यटन से श्रमित, विह्वल;
किन्तु इन सब को, कहो तो, कब मिला विश्राम-साधन ?
क्यों थके तन ? क्यों थके मन ?

देश है यह नित वितति-मय; काल है सन्तत कलन-मय;
भ्रमित जड़ ब्रह्माण्ड सन्तत; और, चेतन भी चलन-मय;
तव जगे क्यों मनुज हिय में, भावना यह पथ-स्खलन-मय ?
नित्य यात्रा, पर्यटन नित, है यही जीवन विलक्षण !
यदपि है अति थकित तन-मन;

मत कहो : पथ कण्टकित है; मत कहो; मग है अँधेरा;
और, मत पूछो कहाँ पर मिल सकेगा निशि-बसेरा;
बस, सदा चलते रहो, हो साँझ, या हो शुभ सवेरा;
पन्थ हो जन संकुलित, या हो निपट सुनसान, निर्जन !
मत करो विश्रान्ति-रत मन !!

तुम स्फुलिंग ज्वलन्त सन्मय; ज्ञानमय तुम पूर्ण चेतन;
है अनादि प्रवास-पथ तव; अन्तहीन त्वदीय विचरण;
तुम स्वयं हो ज्योति; तब क्यों मार्ग में होगा तिमिर घन ?
तव हृदय से ज्योति-किरणें आ रही हैं सतत, छन-छन !
क्यों थके तन ? क्यों थके मन ??

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२३ दिसम्बर १९४३

क्या मैं कर सकता हूँ कृत को अकृत ?

क्या मैं कर सकता हूँ – कृत को अकृत, और,
लिखित को अलिखित ? मैं पूछ रहा हूँ यह !
क्या मैं कर सकता हूँ अपना अतीत नष्ट ?
पूछ मैं रहा हूँ अपने ही से यों रह-रह !
किन्तु तर्क मेरा मुझ से यों बोल उठा, ऐ रे !
कर्मबद्ध जन, ऐसी पोच बात मत कह;
संचितों की शृंखलाएँ कौन तोड़ सका हैं यों ?
वे तो दृढ़तर होती जा रही हैं अहरह !

सम्भवतः पुष्ट तर्क ठीक ही रहा है कह;
तर्क की अकाट्य बात कैसे ठुकराऊँ मैं ?
किन्तु इस विवश प्रारब्ध-बद्ध धारणा से;
हिय में सन्तोष कहो कैसे टुक पाऊँ मैं ?
मानव क्या इतना है विवश नितान्त, अहो ?
तब निज कृति का दायित्व क्यों उठाऊँ मैं ?
क्यों न निज धर्म-कर्म प्रेरणा, विवेक, ज्ञान,
संचितों की वेगवती धार में बहाऊँ मैं ?

किन्तु संचितों का पूर्व कर्त्ता–है, कहो तो, कौन ?
मैं ही हूँ ? तो फिर क्यों मैं विवश, विचार-हीन ?
मैं ही हूँ जब अपने भाग्य का विधाता आदि,
तो क्यों कहते हो मैं हूँ रज्जु-बद्ध और दीन ?

मैंने सिरजी हैं निज संचितों की प्रेरणाएँ;
मैं ही कर दूँगा, उन्हें क्षार-क्षार और, क्षीण !
मैं ही यों हुआ हूँ जब स्वेच्छा से प्रवृत्ति-पीन,
तब क्यों न होऊँगा मैं स्वेच्छया निवृत्ति–लीन ?

हाँ ! हाँ !! आज कृत को अकृत करने की, और,
लिखित को अलिखित करने की चाह है;
किया है उच्छिष्ट जो प्रसून इन अधरों से,
उसके लिए ही इस जीवन में दाह है !
तुम से प्रार्थी हूँ, अहो, जीवन-आदर्श मेरे,
असंलग्नता की मेरे लिए नयी राह है,
उनको उबार सकूँ जिनको डुबोया मैंने,
इतने गहरे, कहीं जिसकी न थाह है ।

बल दो ! मरोड़ सकूँ ग्रीवा निज प्यार की मैं,
बल दो कि नोंच सकूँ नीड़ निज हिय का !
बल दो कि मैं न बनूँ पिय के पगों का शूल;
निष्कण्टक बने पन्थ मेरे प्राण प्रिय का !!
पीतम बँधे हैं मेरे बन्धन में, किन्तु यह—
बन्धन है अति अविचारमय जिय का;
बन्ध मुक्त होवे मेरे पीतम का मन अलि,
और करे पान निज चयन–अमिय का !!!

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
३० दिसम्बर, १९४३

■

प्रिय, बल दो

प्रिय, बल दो, उत्क्रमित कर सकूँ जीवन के अभिशाप,
यह सेन्द्रियता राग-रंग यह, यह मनसिज-सन्ताप !
देख रहा हूँ अपने सम्मुख आत्म-मुक्ति की गैल,
बल दो : मुझे न त्रस्त कर सकें पथ के कष्ट अमाप ।

अपनापन पाने का केवल मार्ग यही है एक !
कि निज तुरंग की वल्गा अपने कर में हो सविवेक
अश्व हिनहिनाये, या नाचे, या भागे बेताब,
पर, आरोही स्थिर हो; उसका डिगे न आसन नैक ।

अब तक यह मदमत्त तुरंगम मुझ पर रहा सवार,
जन-जन हँसे देखकर मेरी छाती पर यह भार !
बोले : देखो ये आये हैं लादे अपना अश्व !!
यों बोले वे, जो कि स्वयं थे अश्वाक्रान्त अपार !!!

मैं क्या कहता ? मैं तो था ही निज हय से आक्रान्त;
मुझे हँसी का समय कहाँ था ? मैं था अतिशय श्रान्त,
पर, अब कुछ उठ खड़ा हुआ हूँ कशा-पाणि मैं आज
मुझे कदाचित् अब न करेगा यह सैन्धव उद्भ्रान्त !

लख जग-जन, लख जग-जन-निर्मित विकट समस्या आज,
लखकर यह विनाश, लख-लखकर यह विकराल अकाज,
आज पूछता हूँ : रे जग, क्यों यह भीषण-विस्फोट ?
क्यों ये ज्वालाएँ ? जलता है क्यों यह मनुज-समाज ?

बोल उठा समता का भौतिक ज्ञानी खाकर ताव !
यह है विषम और वैयक्तिक धन-सम्पत्ति-प्रभाव !
रच डालो अभिनव समाज तुम, रचो नया संसार,
तब अपने ही आप मिटेगा यह शोणित का चाव !

मैं कहता हूँ, भौतिक ज्ञानी, रंच सँभल कर बोल,
देख तनिक वह घर भी, बजता जहाँ साम्य का ढोल !
नहीं सुना ? वाँ भी मचती है घृणित रक्त की फाग,
भूल गया रे, क्या तू अपने घरकी रक्त-किलोल ?

वाँ भी तो होते रहते हैं निशि-दिन अत्याचार,
क्रान्ति-सुरक्षा के मिस वाँ भी होते दुर्व्यवहार।
प्रश्न यही है ! कि क्या अलम् हैं निरे बाह्य उपचार ?
या कि हमें संयत करनी है अन्तर की भी रार ?

बाह्य उपकरण आवश्यक हैं; है उनका भी स्थान,
पर, उनकी सीमा है, इसका रखना होगा ध्यान;
अन्तःशुद्धीकरण, भयहरण, सत्य, सनातन मन्त्र,
इसके बिना समाज-तन्त्र का हो न सकेगा ज्ञान !

अपने घोड़े का चाबुक हो जब अपने ही हाथ,
और, रहे अपने कन्धों पर जब अपना यह माथ,
तभी पा सकेगा यह मानव शान्तिपूर्ण निर्वेद !
तभी, बुद्धि जब समुद चलेगी मन-संयम के साथ !

बल दो, इस डग-मग-पग जग को, हे मेरे आदर्श !
बल दो, कि यह कर सके संयत अपना हर्ष-अमर्ष,
धधक रही है आज प्रलय की यह जो अग्नि प्रचण्ड,
मानव उसको करे शमित औ' मेटे यह संघर्ष !!

यह लालसा, एषणा, इच्छा, ये कामादि प्रमाद,
इन सब का कर सके आज यह मनुज पूर्ण अवसाद !
बल दो, प्रिय, हो गया बहुत, कर दो समाप्त यह खेल,
अब तो दो इस चिर याचक को मधुमय मन:प्रसाद !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१ फ़रवरी, १९४४

■

नैशयाम कल्पमान

निशि का अति क्षुद्रयाम
आज हुआ कल्पमान,
अस्थिर, चल, चपल निमिष
आज हुआ युग समान।

अस्थिर में होता है
जब शाश्वत समावेश—
सन्मय हो जाते हैं
जब अनित्य काल, देश,—

तब होते हैं विलुप्त
अचिर चलन-कलन क्लेश
सुन्दर, शिव, सत्, अकाल
रहता है एक शेष।
पाता है परिवर्तन तब चिरता का प्रमाण।
चपल निमिष युग समान।

निशि के चंचल क्षण को
तुम देते स्थिर स्वरूप—,
छिटकाते स्मिति-किरणें,
हरते घन तम कुरूप,—

भरे हुए प्राणार्पण
निज नयनों में अनूप—
आये साकार बने
तुम मेरे चिर अरूप।
उस क्षण अंकित होता क्यों न अमरता-विधान ?
नैशयाम कल्पमान।

जब आयें देह भरे
सपने मम मनसि जात,
तब वह निशि क्यों न बने
मेरी सौभाग्य-रात ?

तब पद-रति-अर्पित मम
अंगीकृत शिथिल गात
निशि का तम लोप हुआ
मम नवजीवन-प्रभात
प्रिय, त्वम्-मय मेरा मन, त्वम्-मय मम
विजित प्राण।
ओ, मेरे भासमान।

एक निमिष-सम्पुट में
भरकर आनन्त्य प्रहर,—
नयनों से कौतुक कर
मुसकाये तुम प्रियवर,

मृण्मय यह काल-खण्ड,
जिसको चल क्षण कहकर,
हँसते हैं जग-जन-गण,
वही हुआ अजर, अमर।
ख़ूब दिया तुमने इस क्षर को अमरत्व दान।
नैशयाम कल्पमान।

श्रवणों में, नयनों में,
प्राण-व्यजन में, मन में,–
अंकित है अमर छाप
रोम-रोम, कण-कण में।
गूँजा अनहद निनाद
तव कंकण-झन-झन में,
व्योम-गान-तान उठी,
मेरे प्रिय, तव स्वन में
आये दिक्-काल तुम्हें वन्दन करने, सुजान।
ओ, मेरे रुचिर प्राण।

मेरे मन

अन्तर्मुख, अन्तर्मुख हो जा, रे मेरे मन,
उझक-उझक देखेगा तू किस-किस के लांछन ?
कर निज दर्शन, मानव की प्रवृत्ति को निहार,
लख इस नभ-चारी का यह पंकिल जल-विहार,
तू लख इस नैष्ठि का यह व्यभिचारी विचार,
यह सब लख निज में तू, तब करना मूल्यांकन
अन्तर्मुख, अन्तर्मुख हो जा, रे मेरे मन।

बहुत सरल है करना अन्यों का तिरस्कार,
पर, है दुष्कर करना निज पर पाहन-प्रहार,
अन्यों का चीर-हरण तो है सीधा व्यापार,
कठिन काम जो है वह है निज का नग्न करण
अन्तर्मुख, अन्तर्मुख हो जा, रे मेरे मन।

देखे हैं कितने ही तू ने विश्वासघात,
और लखे हैं तू ने अन्यों के स्तर-निपात,
पर, क्या है स्मरण तुझे अपनी भी रंच बात ?
अन्यों की निन्दा के पहले कर उसे स्मरण,
अन्तर्मुख, अन्तर्मुख हो जा, रे मेरे मन।

कृष्ण अनादर से यदि यमुना को श्याम कहे—
तो, वह निज कर में फिर दर्पण को क्यों न गहे ?
आत्म-साक्ष्य हो तो क्यों जग में अविचार रहे ?
मानव की वीथी में क्यों बिखरे कण्टक-गण ?
अन्तर्मुख, अन्तर्मुख हो जा, रे मेरे मन।

करे हेम यदि अपना आदि वस्तु-रूप वरण,—
तो क्यों रज करे स्वर्ण-स्पर्द्धा का भार वहन ?
ऊँचे-नीचे क्यों हो माटी-माटी के कण ?
क्यों न थमें अपने ही आप दोष का वितरण ?
अन्तर्मुख, अन्तर्मुख हो जा, रे मेरे मन।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२१ मई, १९५५

■

द्वन्द्व–समुच्चय

मानव के प्राणों में पीड़ा, मन में विवेक,
अधरों पर खेल रही रुदन-हास मिली रेख ।

चिर पुराण इस नय ने कुछ यों सन्देश दिया :
कि इस द्विपद मानव ने रस, विष, सब संग पिया :
द्वन्द-समुच्चय बनकर यों मानव मरा, जिया ;
निज में अन्तर्विरोध है इसकी गीत टेक;
प्राणों में दाह और फिर भी मन में विवेक ।

फिर बोला नभ : रे नर, देख, कि मैं घूर्णित हूँ,
शत-शत शम्पाओंके घोषों से तूर्णित हूँ;
कम्पित हूँ, स्तम्भित हूँ, आन्दोलित, चूर्णित हूँ;
फिर भी हूँ स्थिर, सुशान्त, एक, यदपि मैं अनेक,
मेरे अन्तर्विरोध में भी है एक टेक ।

नभ-वाणी सुन मानव पूछ उठा यों : हे नभ,
तेरे उर में भी क्या हो उठती है 'जब-तब' ?
देख मुझ द्विपद को तू, मैं हूँ कितना निष्प्रभ
तुझमें अगणित रवि-शशि, मुझमें ? तमसातिरेक
मुझमें अविवेक गहन, तेरे मन में विवेक ।

यह सुन नभ अट्टहास कर बोला : हे मानव,
यों मत कह; तू ही तो ज्योति-पुंज का है लव;
मैं तो हूँ भूत-संघ, मैं जड़गति स्पन्दित शव;
तू है सत् चिदानन्द, जिसका मैं दास एक
मत घबड़ा द्वन्द्वों से; तेरा रक्षक विवेक ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२० मई, १९५५

निज ललाट की रेख

अब तक की क्या तुम न पढ़ सके निज ललाट की रेख ?
देखे इतने दर्पण, फिर भी, बाँच न पाये नैक ?
हाँ, उलटे आखर पढ़ने का तुम्हें नहीं अभ्यास;
किन्तु पढ़ेगा अन्य कौन तव भाल-लिखित ये लेख ?

अच्छा है कि रहें अपठित ही ये विधि-अक्षर वाम;
पढ़ लोगे तो भी क्या होगा ? कौन सरेगा काम ?
जो होनी है वह तो होगी; अनहोनी होगी न;
यदि यह नियम अटल.है तो तुम क्यों होते हो क्षाम ?

यदि है नियति पूर्व गति-निश्चित-चालित घूर्णित चक्र,–
तब क्या चिन्ता ? रहे भाग्य की रेखा ऋजु या वक्र।
यदि है यहाँ विवशता इतनी, तो फिर,–खेल समाप्त !
मिलें भले ही जीवन-नद में तुम्हें मत्स्य या नक्र !

किसने तीतर-फन्द बनायी है ये तीतर कौन ?
पिंजर यह क्या है ? पिंजर के बाहर-भीतर कौन ?
कौन फँसा है ? फाँसा किसने ? कैसे ? कब ? किस अर्थ ?
तैत्तरीय गोत्रज तुम हो, तो बोलो, क्यों हो मौन ?

सहस्राब्दियाँ इन प्रश्नों को लेकर अपने अंक,
यों विहँसीं ज्यों दुलस विहँसता शरद शशांक मयंक;
श्यामल शश शशि की गोदी में; औ' ये धूर्जटि प्रश्न,–
अयुत युगों, कल्पों के हिय में खेल रहे निःशंक।

निरुद्देश्य ही गिरी कंकरी जल में उठी तरंग,
और, उझक आये जो तारे तो काँपी नभ-गंग,
उसी प्रकार, बिना आशय ही ये सब गहरे प्रश्न,—
करते हैं क्या संसृति-सुर की नीरवता को भंग ?

मत सोचो इन प्रश्नों की है निष्फल ऊहापोह;
चिर चिन्तन ही से कटता है जीवन का व्यामोह;
प्रश्न करी मधुकरी वृत्ति है सहज उन्नयन-पन्थ;
ज्ञात नहीं क्या कि है हृदय में निरलस शाश्वत टोह ?

शतियों का श्रृंगार किया है इन प्रश्नों ने नित्य;
इन ने सिरजा सहस्राब्दियों का मानव-साहित्य;
कम्पन, मन्थन, चिन्तन उन्मन, उलझन-क्षण, ये धन्य।
जिनके कारण चमका जन का बल-विक्रम-आदित्य।

कौन कहेगा कि ये प्रश्न हैं निरुद्देश्य, निःसार ?
कौन कहेगा कि है वृथा ही इनका तत्त्व–विचार ?
यदि ये प्रश्न व्यर्थ हैं तब तो जन-जिज्ञासा–वृत्ति–
होगी सिद्ध व्यर्थ। फिर, होंगे बन्द प्रगति के द्वार।

उठते हैं यदि प्रश्न हृदय में तो वे उठे सुखेन;
प्रश्नों के बल हमें उपनिषत् मिली प्रश्न, कठ, केन;
करते-करते प्रश्न बन गया नचिकेता यम-मित्र;
और अमृत है केवल मन्थन-जिज्ञासा का फेन।

तुम हो कौन, कि जिसने हिम यों मथ डाला, हे प्राण ?
तुम हो कौन, कि मैं धरता हूँ निशि दिन जिसका ध्यान ?
विरही ने अकुला कर पूछा यों जिस क्षण, जिस याम-
उसी निमिष से मेघ दूत के हुए हृदय - हर गान।

मानव ने भर प्रश्न दृगों में जब देखा जग-जाल–
वैज्ञानिकता बरबस जनमी उसी दिवस, तत्काल;
उसी प्रबल परिपृच्छा का पय पीकर हुई वयस्का
और कुशल इतनी कि खिलाती है वह अणु के व्याल ?

अन्तर्मुख होकर मानव ने पूछी जब कुछ बात–
तब बहिरंग रूप की महिमा हुई और कुछ ज्ञात;
तू-तू, मैं-मैं, यह-वह के सब हुए आवरण दूर;
वह अद्वैत हुआ सम्मुख, जो अब तक था अज्ञात।

अपने श्रम की देख व्यर्थता मानव ने चुपचाप,–
गही शरण उस नियति नियम की जिसका क्षेत्र अमाप;
और, सोचने लगा कि क्या है यह सब दुर्दम खेल ?
क्यों है जीवन में इतना यह निपट विवशता-शाप ?

नियति तुम्हारे लिए अटल है; पर, सोचो यह बात,–
कि जो नियति-निर्माण-हेतु है वह क्या है अज्ञात ?
है निर्बन्ध प्रेरणा चेतन के विकास में व्याप्त;
तब, इच्छा-स्वातन्त्र्य तुम्हारा है स्वभाव, सहजात।

कलिल जात जीवन-अणु से तुम स्वेच्छा से ही आज–
द्विपद, द्विभुज, मनवान, बुद्धियुत बने सृजन के राज;
इस प्रकार है स्वयं सिद्ध तब इच्छा का स्वातन्त्र्य;
और कर्म-स्वातन्त्र्य सजाता है सर्जन के साज।

क्या है नियति ? नियति है केवल कर्म-समुच्चय, मित्र,
और क्रिया की प्रतिक्रिया है निश्चय अक्षय, मित्र;
कर्म तुम्हारे पच न सके जो वे बन नियति कठोर,–
तुम्हें विवश-सा नचा रहे हैं जीवन-नाच विचित्र।

स्वेच्छा प्रेरित, स्वकृत, शुभ, अशुभ, जो एकत्रित कर्म–
उनमें ही है निहित नियति की जन्म-कथा का मर्म;
फिर भी सन्तत विद्यमान है तव स्वकर्म-स्वातन्त्र्य;
विषम-सम नियति-नाश, तुम्हारा है आत्यन्तिक धर्म।

कथित अमोघ नियति का कर्त्ता जो मानव मनवान्–
हर्त्ता भी हो सकता है यदि हो सचेष्ट सज्ञान;
चक्रव्यूह-भेद प्राक्तन का करना, यह है शक्य,–
यदि हों लौह-सार-बल संयुत इस मानव के प्राण।

यह सब है ध्रुवसत्य किन्तु तुम निरखो वह निरीह प्राणी,–
जिसके नयनों में जल-कण हैं और मूक जिसकी वाणी,–
जिसका जीवन नियति हस्तगत कन्दुक बनकर लुढ़क रहा,–
स्वकृत कर्म-स्वातन्त्र्य भावना ऐसे तन ने कब जानी ?

वृथा के डींग भरो तुम न यारो;
तनिक निज ओर भी तो तुम निहारो;
मिला कब कर्म का स्वातन्त्र्य तुमको ?
तनिक अपनी दशा भी तो विचारो ?

आ गया सम्मुख तुम्हारे भाग्य का यह खेल;
हो गयी है वक्र, बन्धुर, कठिन जीवन-गैल;
पूर्व के अभिशाप का सह चरण तुमको प्राप्त;
काट सकते हो सहज क्या कलित जो विष-बेल ?

चिर तितिक्षा, धैर्य, साहस, शान्ति, क्षान्ति अपार,-
नित्य निज कर्त्तव्य-पालन, हृदय-भाव उदार,–
दोष-दर्शन-शून्य आँखें, स्नेहमय मन, प्राण,–
ये मिलें तब स्वयं होगा नियति का संहार।

सहन कर लो, सहन कर लो, नित सहो यह शाप,
अन्य का यह नहीं, यह तो है तुम्हारा पाप;
भाग जाओगे कहाँ ? कुछ तो कहो, रण छोड़ ?
बाँध दोगे किस कामी पर कर्म के शर-चाप ?

पलायन है व्यर्थ का ही पापपूर्ण प्रपंच,
कौन कहता है कि इससे शान्ति मिलती रंच ?
लुढ़कते वे अतल पहुँचे, फिर वितल, पाताल,–
जो पलायित हुए सहसा छोड़ जीवन-मंच ।

तुम न भागो, लड़ो, जूझो निज नियति के संग;
बस, तभी होगी तुम्हारी श्रृंखला यह भंग;
भागने से तो निगड़ सम तव चरण को बाँध–
वह बनेगी विकट भावी बन्धनों का अंग ।

कालकूट जो घोला–
जीवन-रस में अजान में तुमने,–
उसे पान करने क्या–
शिव आयेंगे शिवा छोड़ गिरि वे ?

अमृत स्वसंचित मधुमय–
सम्पुट भर-भर चाहो तो बाँटो ;
पर, विष-प्याला अपना
पीना सदा पड़ेगा तुमको ही ।

तव प्रसन्नता में हैं–
भागधेय संसृति के सब प्राणी ;
किन्तु तुम्हारा रोना–
तुम्हें छोड़कर अन्य न रोवेगा ।

अपनी सजला आँखें–
करो निर्जला; और, भरो उनमें–
वे दृढ़ निश्चय-किरणें–
हरें ध्वान्त जो विकृति-नियति-सृति का ।

कालकूट पीकर ही
धूर्जटि बन आये अशंक की शंका
स्वकृत हलाहल पीकर
और नहीं, तुम बनो शम्भु-किंकर ही ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२२ जून, १९५५

■

दुराव

कुछ रहस्य है ऐसा,
जिसे तुम्हारे विश्वासी जनमी
तुमको नहीं बताते;
तो तुमको क्यों हो इससे अचरज ?

सब जन अपनी खिचड़ी–
पका रहे हैं अपने चूल्हे पर;
तुम्हें क्या पड़ी है जो–
देखो : दाने पके हैं कि कच्चे ?

भाग्य सराहो अपने
कि तुम रखे जाते हो दूर सदा;
विपद मोल क्यों लोगे ?
गुप्त मन्त्रणा एक यन्त्रणा है।

'अपनी - अपनी ढपली,
अपना-अपना राग, गीत अपना;'
नियम नहीं यह दूषित
यदि न बनें जन क्षुद्र स्वार्थ केन्द्रित।

स्वयं बजाने से ढप
ठीक ताल-गति सीखेगा मानव;
क्या गति होगी उसकी–
तुम्हीं बजाते रहे ढोल-ढप जो?

और बिना आलापे-
अपना राग, सिद्ध स्वर कैसे हो ?
गाओ तुम जो चाहो,
पर, अन्यों के कण्ठ न सुधरेंगे।

अच्छा है, वे तुमसे
निज सम्बन्धित बात नहीं कहते;
करो प्रशंसा उनकी
कि है आत्म-विश्वास उन्हें इतना !

हाँ, पर, एक खटक है :
कि जब गोपनीयता रहे इतनी–

तो फिर, संग चलने में
क्या कोई शुचि रुचि रह जाती है?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२२ जून, १९५५, रात्रि १२.३०

■

वृकोदरी ज्वाला

नारी के नेत्रों में –
मँडरायी दानवी वासना की,–
तब मानवी बिचारी
गली-गली की डाइन बन आयी।

नर में भी नारायण
चाहे उतरें, या कि नहीं उतरें;
पर, नारी के हिय में
नारायणी न उतरे तब क्या हो?

देखी हैं वे आँखें
जहाँ जल रही वृकोदरी ज्वाला?
देख, रह गये होंगे
स्तम्भित, निष्पन्दित, वंचित, शंकित !

नग्न मानवी देखी ?
वैसी जैसी कि हाट में बैठी ?
स्वयंचलित वाहन में (ऑटोमोबाइल में) (ऑटोमबील में भी)
वैसी ही निर्लज्जा बैठी है !

सुख की ललक हिये में,-
लेकर विचरी मानव की बेटी;
मद्य, मांस, मैथुन की–
बन आयी वह घृणित क्रीत दासी।

घनी सान्ध्य वेला में –
कुतुब लाट छाया के नीचे,
जार-अंक में, पीकर,
धन्य कर रही है वह निज जीवन ?

क्या रोना आता है–
लख समाज का सस्ता नारीपन ?
रोना हो तो रो लो;
पर, न बनाओ अम्ल प्रेम-पय को।

मत खोओ तुम नर के
नारायणत्व में अपनी आस्था।
और, मानवी को तुम
दैवी गुण-विभूषिता ही मानो।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२२ जून, १९५५, रात्रि २.३०

■

पिंजर-मुक्ति-युक्ति

'राधा कृष्ण' न बोले,
और, न 'सीता राम' कहा उन ने;
चुग्गा खाकर शुक जी–
'ठेंऊँ-टेंऊँ-टियाँ' लगे करने।

कई युगों से बैठे
बन्दी कीर पींजरे में अपने;
खाते हैं, पीते हैं;
किन्तु न अक्षर एक सीख पाये ।

रहे असंस्कृत अब तक,
तो क्या छोड़े आशा संस्कृति की ?
ये क्या वह ऊसर हैं—
जिसमें कोई· बीज नहीं जमता ?

सुआराम, क्या यों ही—
बने रहोगे जंगली के जंगली ?
वन्य भाव अब छोड़ो
करो पठित एकाध नाम-अक्षर ।

व्यर्थ करो मत टें-टें;
और, न अपने पंख फड़फड़ाओ ।
पिंजरे की तीली पर
मत रगड़ो अब और चोंच अपनी ।

पिंजर-मुक्ति मिलेगी,—
जब तुम निश्चल, शान्त, सौम्य होकर,
लेकर अक्षर-आश्रम,—
अन्तरिक्ष नापोगे नयनों से ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२३ जून, १९५५

■

यों शूल-युक्त, यों अहि-आलिंगित है जीवन

था एक समय वह जब जीवन में सूनापन—
करता रहता था साँय-साँय प्रतिपल, क्षण-क्षण;
जब था अतृप्ति से आच्छादित यों अन्तर्नय—
हो भरा हुआ ज्यों गो-खुर-रज से सान्ध्य-गगन।

उस सूनेपन में ऊषा जब कि विहँसती थी—
अपनी प्राची-गोदी में मधु कल्पना भरे,—
तब लगता था : श्मशान की नीरव पीड़ा में—
भावी मंगल के स्वप्न व्यर्थ आकर उतरे।

उस समय दिवस बढ़ता था हौले-हौले यों,—
जैसे बढ़ता हो भ्रान्त पथिक सूने पथ पर;
यों लगता था कि काल भी अपना कलन-धर्म,—
बिसरा बैठा है, और हुआ है वह स्थावर।

ज्यों-त्यों कर के सूनी सन्ध्या झुक आती थी,
मानो कि रूक्ष केशी भिखारिणी, लकुटी पर,—
झुक जाये, नयनों में भर याच्ञा युग-युग की,
हो जिसे न आस्था रंच काल की भृकुटी पर।

आती-जाती थी अँधियारी या उजियाली—
रत्नोपजटित वा सोम-रश्मि-सिंचित रातें,—
जिनके अन्तर में शिलीभूत आँसू मन के
रंच न कर पाते थे अपने भव की बातें।

प्राची से, पश्चिम दिशि से, या कि मध्य दिन में–
जब-जब रवि ने देखा मेरा सूना जीवन,–
तो वह भी लगा सोचने कि क्या कभी देखा
ऐसा चेतन-मण्डित हृत भाग्य मृत्तिका-कण ?

अन्तरतर मय क्षुत्-क्षीण, नेत्रमय तृषा भरे,–
मन मेरा अमन, हृदय रीता-रीता अशान्त,-
अस्तित्व-भार दुर्वह, पथ-चरण असम्भव अति,
मैं चर, स्तम्भित-स्थित अचर सदृश, मय प्राण शान्त।

ऐसे क्षण मेरा पूर्व शाप बन हितकामी–
बोला : क्या भूखा-प्यासा है, रे तू प्राणी ?
तो ले यह प्रभु प्रसाद, ले प्रभु चरणामृत तू,
मैंने समझा मय सुकृत हुआ औघड़ दानी ।

ले लिया ईश की कृपा समझ जो कुछ मैंने,
वह विष-फल और विष-उदक ही निकला, भाई;
पर, यह है यदि मम कृत का फल तो फिर क्या वश ?
निश्चित थी जो कुछ कुगति वही आगे आई।

शीतल, कोमल, अति मसृण व्याल में गरल अमित;
नयनाभिराम नर-नारी में वासना-ज्वाल,
यह देख पूछ बैठा मानव अपने मन से-
हे मन, ऐसे जन से क्या अच्छा नहीं व्याल ?

विश्वास, स्नेह, सम्मान-दान का प्रतिफल यदि–
है केवल प्रवंचना, छल, लज्जाहीन कपट,
विश्वासघात, संकोच शून्य वासना-तृप्ति,
तब मानव के हिय में न उठे क्यों एक लपट ?

मैंने तोड़ा जो फुल्ल कुसुम तो क्या देखा ?
उसके अन्तर में एक भयंकर तक्षक है।
मैंने सोचा : मैंने कब ऋषि-अपमान किया ?
जो मुझको मिला परीक्षित जीवन-भक्षक है ?

मैं कितना हूँ सर्पाभिभूत, कुछ मत पूछो,
मैं लहराता ही रहता हूँ प्रत्येक घड़ी
औ' तक्षक मुझसे लिपटे बैठा है ऐसे
जैसे मैं हूँ चन्दन की कोई एक छड़ी।

थक हारे बीन बजाकर, सावर पढ़-पढ़कर;
गारुड़ी अनेकों सर्प - मन्त्र - तत्त्वज्ञानी
पर, यह तक्षक है कि न टस से मस हुआ रंच,
उसको चालित न कर सका अभिमन्त्रित पानी।

नय की परिभाषा बाँची और अनय की भी
दिन रात, बैठ एकासन, बड़े परिश्रम से;
जितना ही पढ़ा, बढ़ गयी उलझन उतनी ही
मन मुक्त नहीं हो सका विचारों के भ्रम से।

स्थिर बैठ, रात को झिल-मिल तारों के नीचे,–
मैं लगा पूछने जब कि प्रश्न पर प्रश्न निरे,–
तब कहा किसी ने कि मत व्यर्थ में उलझ, अरे,
उलझन के बल क्या तव पूर्वज भव-जलधि तिरे ?

मत पूछ कि सम्मुख जो कुछ आये आने दे,
ले ले पल्ला पसार कर, वह मधु हो या कटु;
तू कैसे उसे ग्रहण करता है, बस, इससे –
निर्णय होगा – तू अकुशल है या है तू पटु।

होती नभ से जीवन-दायिनी अमिय-वर्षा;
पर, यदि कृशानु की नदी बह उठे अम्बर से-
तब क्या तू यों कह उठेगा कि अन्याय हुआ ?
क्या सृष्टा से है प्रेम ? नहीं प्रलयंकर से ?

कट गया मोह का जाल, मिट गया भ्रम भारी,
जो तेरे सारे सपने चकनाचूर हुए;
जो अपने कहने-भर को ये हो गये अन्य
अच्छा है, जो कि निकट थे वे अब दूर हुए।

गड़ गया पग-थली में जो काँटा कीकड़ का
मैं बोल उठा : है दुष्ट स्वभाव युक्त काँटा।
पर, शूल बोल उट्ठा झुँझलाकर, ओ अन्धे,
निज चरण-धरण हित तू ने मुझको क्यों छाँटा ?

मैं पड़ा हुआ था, तू निकला उस पथ होकर,
औ' चरण-लीन करके मुझको तू ले आया,
अब खटक रहा हूँ तब तू क्यों रोता है, रे,
तू ही तो मुझको उस सूने पथ से लाया।

तू एकाकी था, मैं अब तेरा संगी हूँ
तू जहाँ जायगा वहीं रहूँगा तेरे संग,
तू लँगड़ाता है, तो लँगड़ा ले, किन्तु मित्र,–
मुझसे ही तो है निपट कण्टकित तव अंग-अंग।

है बात ठीक यह मम पग-तल-गत कण्टक की;
है मेरा दोष कि मैंने पाँव धरा उस पर;
पर, यदि उसमें सुमनोचित गुण होते तो क्यों–
वह मुझे सालता रहता यों भीतर घुसकर ?

मैं स्वयं बन गया हूँ शूली उसको लेकर,
शूली भी ऐसा जैसे हो कोई बबूल,
है कुसुम-व्याज से फूल रहे मुझ पर इतने—
ये नोंकदार, छेदन-समर्थ अनगिनत शूल !

यों शूल-युक्त, यों अहि-आलिंगित है जीवन;
पर, सुमन, सुधा का है स्वभाव मेरा, निश्चय;
निश्चय ही होंगे कण्टक परिणत सुमनों में,
बरसेगा अमृत और होगा अहि-विष का क्षय ।

मैं अमृत-पुत्र, मैं सुधा-सुवन, मैं सुमन-जात,
यह गरल और ये शूल छद्म छल-छाया है;
मैं सदानन्दमय, मैं चिन्मय, मैं ईश-वृत्ति
वेदना वृन्द तो भ्रम है, केवल माया है ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
३० जून, १९५५

■

करुणा-घन

झर-झर-झर बरसे करुणा-घन;
सर-सर-सर सिहरे तृण-तरु-तन;
झर-झर-झर बरसे करुणा-घन !

नाद-निरत, अति ध्वनित गगन-मन;
अवनि मृदंग-घोर सुन उन्मन;
हरित भरित नित चिन्मय चेतन;
सिहर-सिहर हरषे मृण्मय कण;
झर-झर-झर बरसे करुणा-घन;
सर-सर-सर सिहरे तृण-तरु-तन।

सन-सन-सनन समीरण-रिंगण,
झींगुर-झंकृति किंकिणि-सिंजन;
करवन-उपवन-राजि प्रमन्थन,
हहरा हर-हर-हहर-प्रभंजन,
झर-झर-झर बरसे करुणा-घन;
सर-सर-सर सिहरे तृण-तरु-तन।

तरणि-ज्वालमय धरणि-काल-क्षण
शान्त, तृप्त पाकर घन-तर्पण;
ले अम्बर का अर्घ्य-समर्पण—
थर-थर-थर वसुधा-हिय आंगण
कम्पित भू-प्रांगण;
झर-झर-झर बरसे करुणा-घन;
सर-सर-सर सिहरे तृण-तरु-तन।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ जुलाई १९५५, रात्रि २.५५

■

हे ज्योतिर्मय

अपनी दीप्ति-किरण से कर दो जग-मग इस धरणी का आँगन
हे ज्योतिर्मय, निज द्युति-स्मिति से कर दो सस्मित जन-गण-आनन।

यह वसुधा, यह धीर धरित्री, यह वराह-उद्धृता, नग-धृता,–
अचला, विश्वम्भरा, रसा यह, अर्णव-वसनोर्मि-आवृता,–
सुमन-पर्ण-तृण-राजि-संयुता, रत्न-पण्डिता, यत्न-संस्कृता,–
आज ध्वंस-उन्मुखी बन रही मानव की लिप्सा के कारण;
हे ज्योतिर्मय, तव द्युति-कर से हो जन-मन-घन-ध्वान्त-निवारण।

निज विनाश रत, उद्धत, मतिहत, योगभ्रष्ट यह वामन मानव,–
अहंकार-मज्जित, निर्लज्जित, बना रहा है, निज को दानव;
अहंकार-कर्दम-निमग्न, यह नग्न बन रहा है अति दानव
उन्नत बुद्धि अधोनत निष्ठा, तब, इसका हो क्यों न पराभव ?
तुम मंगलमय इस जगती पर करो अवतरित नन्दन कानन;
हे ज्योतिर्मय, निज आभा से चमका दो धरणी का आँगन।

भारत-भूमि तो सदा रही है प्यारी क्रीड़ा-स्थली तुम्हारी;
सदा भेजते रहे यहाँ तुम अपने तेज-अंश-अवतारी;
वर दो : इस स्वाधीन देश के हम आबाल वृद्ध नर-नारी,–
तव विश्व-भर रूप निहारें, कहें नित्य उसका आराधन;
हे ज्योतिर्मय, विश्व-नाश का तिमिर हरो, चमके वसुधांगन।

५ विण्डसर प्लेस, नयी दिल्ली
८ अगस्त, १९५५

■

नौका-निर्वाण

यह रात मौन-व्रत धारे,
ओढ़े यह चादर काली,
लक्षावधि झिलमिल आँखें
क्यों दिखा रही मतवाली?

अन्तरतर का अँधियारा
यह फैल पड़ा भूतल में,
सब ओर यही है छाया –
वन-उपवन में, जल-थल में।

कैसे बन गया अँधेरा
मेरा वह रूप उजेला ?
कैसे लुट गया अचानक
मेरे प्रकाश का मेला ?

क्या तुम सुनना चाहोगे ?
वह तो है एक कहानी;
जग सुनके हँस देता है,
उलझी-सी बात बिरानी।

गिनता रहता हूँ तारे,
सूनी कुटिया रोती है;
ये तारे हैं अंगारे
या थाल-भरे मोती हैं ?

मोती की सुध आते ही
सोती पीड़ा जगती है;
ग्रीवा की माल तुम्हारी
हिय में डुलने लगती है।

आके बयार धीरे से
थपकी दे लगी सुलाने;
उस निशि की मधुरस्मृति को
हलके-से लगी भुलाने।

पर नींद हो गयी बैरिन,
नैनों को छोड़ सिधारी;
यह रात, बिरात हुई है,
आँखें क्या करें बिचारी ?

धीरे-धीरे सब बातें
जग-जगके आयीं आगे ;
विस्मृति ने नाता तोड़ा,
ये पुनः स्मरण सब जागे।

उस निशि की सुध आयी है,
जब शरद-चाँदनी छायी,
नभ को करके आलोकित
सरिता-तट पे मुसकायी।

मेरी टूटी-सी नैया
गंगा के नीले जल में
डुलती थी, थिरक रही थी,
कम्पित होती पल-पल में।

तुमको बिठलाके हिय में
पूनो का चाँद निहारूँ;
लहरों पे राज करूँ मैं,
तुम पे सब सरबस वारूँ ।

यह सोच-सोचकर नौका
हिय में हुलसी डुलती थी ;
उस दुग्ध-फेन रजनी में
मन की मिश्री घुलती थी ।

कितने उल्लास भरे थे,
आशाएँ हिय में कितनी ;
अनुमान नहीं था, तुममें
होगी निष्ठुरता इतनी !

मैं ड्योढ़ी पे जा बोला—
सरकार, नाव डुलती है !
तुम बोल उठे—पागल की
क्षण में आँखें खुलती हैं !

उफ़् ! कैसी निष्ठुरता थी !
क्या अरमानों का वध था !
उन वचनों में, हे निर्दय,
कितना पीड़ाकर मद था !

वह शरद-पूर्णिमा मेरी
सूनी ही रही अभागी ;
उस रात लगा जो झटका,
हिय भी हो चला विरागी ।

अब शीतल जल के तल में
मेरी तरणी सोती है;
तट पे, यह भग्ना वंशी,
उसकी पीड़ा रोती है।

इस रात, अचानक, कैसे,
सुध उस निशि की हो आयी ?
निष्ठुरा पुनः स्मृति मेरी
क्यों उसे खींच ले आयी ?

■

दोलाचल वृत्ति

ओ अभिशप्त, की न तूने ही यह याचना अलख चरणों में :
'देव, नेह मेरे प्रति उनका गरल बना दो, दुखद क्षणों में,
उनका नव अनुराग सलौना बन जाये विरक्ति की छाया,
वरद, नेह को घृणा बना दो, मुझे बना दो निपट पराया;
इस सनेह-वरदान-भार को, बोलो, कैसे सहन करूँ मैं ?
इस बलिष्ठ, पर, कम्पित कर में यह धन कैसे ग्रहण करूँ मैं ?'

अरे अभागे यही प्रार्थना उट्ठी थी तव अन्तरतर से,
नभ-गंगा-सी यही याचना-धार बही थी हिय अम्बर से,
अलख चरण तक गयी धार बह और हुए वे पद प्रक्षालित
अथवा तव याचना हो गयी 'एवमस्तु' वर से प्रतिपालित,
लो, उनके मन-वचन-कर्म से छलकी घृणा आज तेरे प्रति,
घोर विरति में अब परिणत है उनके अमल-नेह की संस्कृति।

क्या सूझा था तुझे ? जनम में, एक बार वह नेह मिला था,
एक बार ही तो जीवन में पीतम तुझे सदेह मिला था;
फिर भी तो तू घबराकर यों चीख़ उठा 'हे देव, नहीं यह,'
ज़रा बोल क्यों थी दाहकता ? क्यों थी वह घबराहट दुःसह ?
पद निक्षेप एक दिशि में, फिर, झिझक, और फिर चलने का मन ?
यह कैसी अटपटी बात ? यह कैसा मन्थर आत्म-प्रवंचन ?

ओ अजान, मनु-वंशज के तुम अति अथाह हिय-सिन्धु सलोने,
कैसे तेरी गहराई में पैठें ? सब मानव हैं बौने;
हृदय-उदधि में घोर विरोधी-भाव-वीचि, विक्षोभ मचा है,
इसके अर्राटे ने अपना एक अलग संसार रचा है
कुकृति, सुकृति, स्वीकृति, अस्वीकृति,
सद-सद्गति, रति, विरति भयंकर
इस विडम्बना ही में अब तक उलझा रहा सनेह निरन्तर।

पिय का नेह मिला, हिय हुलसा, ललचाया, दौड़ा फिर झिझका,
फिर कुछ आतुर हुआ, और फिर कुछ अकुलाया, कुछ-कुछ हिचका,
मधुरस में यह कँकरीलापन ! है कुछ ऐसा भाग मनुज का,
वर में भी अभिशाप देखना, शेवा है इस देवानुज का
मनःप्रसार कणों में भी है आत्म ग्लानि की सुप्त व्यथा कुछ,
नेह प्राप्ति में भी रहती है अस्वीकृति की अकथ कथा कुछ।

ये औचित्यानौचित्यों के किसने रच डाले हैं बन्धन ?
ज्ञान-भाव यह कैसा जो यों कहता है कि थमें हिय-स्पन्दन ?
यह सदसद्विवेक का भीषण शाप मिला रे द्विपद पशु तुझे,
और विवेक शून्य अंगारे मिले, बुझाये भी न जो बुझें;
आग जलाती है, विवेक यह रो-रोकर वर्जित करता है,
और अवश अनुताप-दुःख से यह मानव-जीवन भरता है।

अब, जब उनके रोम-रोम में उदासीनता, घृणा छा गयी,
अब, जब उनके मृदु नयनों में कटु, विरक्ति-भावना आ गयी,
तब तू यों लालायित होकर मना रहा है क्यों यह मन में :
कि इस दुखी जीवन से तो कुछ सुख शायद मिल जाय निधन में !
अब, जब तव प्यासे लोचन ये उन चरणों में अड़ जाते हैं,
तब, क्या देखा नहीं कि, उनके माथे पर बल पड़ जाते हैं ?

तेरा दिल भी आने-जाने वाला एक हिंडोला है, नर,
बड़ी होशियारी है तुझमें, फिर भी तू कुछ भोला है, नर,
क्षणिक ज्ञान के क्षणिक जोश में माँग चुका है विरति-दान तू,
अब लो उन्हें असह्य हो उठा तव अवलोकन, सत्य मान तू;
अब क्या फिर भी ललक-ललककर माँगेगा उनका सनेह तू
अरे क्या रखा है इसमें अब ? बना नेह अपना विदेह तू ।

देव बता दो तुम्हीं कि कैसे रोकूँ यह उन्मत्ताकर्षण ?
संयम अग्नि-कुण्ड में कैसे 'स्वाहा' कह छोड़ूँ हिय-घर्षण ?
मेरा अग्नि-कुण्ड है केवल पावकहीन राख की ढेरी,
और सुनो, स्वाहा कहने की इतनी ताव नहीं है मेरी;
खिंचता ही जाता हूँ बरबस, किन्तु, हाय, फिर पछताता हूँ;
'तथा करोमि नियुक्तोऽस्मि यथा' – यही कथन मैं सच पाता हूँ !

क्यों यह दिया राग-रस इतना ? क्यों यह चंचलपन दे डाला ?
क्यों त्रिगुणों को सूत्रबद्ध कर पहिना दी आकर्षण माला ?
इतने पर भी तुम कर लेते यदि सन्तोष, न था कुछ भी डर,
पर विवेक श्रृंखला डालकर नर को बना दिया है वानर;
अब देखो यह कैसे-कैसे नाच नाचता है निशि वासर,
इसके पद-विन्यास कँप रहे विरुद्धाचरण गति से थर-थर ।

भीख माँगता हूँ, याचक हूँ, बल दो, हे, बल दो, हे बल दो,
मन्थन थम जाये, सेन्द्रियता विजिता हो, यह वर अविकल दो,
लीला की प्रियता की भी तो मर्यादा है, कुछ सीमा है,
फिर भी मुझे नचाने का यह तव उत्साह न क्यों धीमा है ?
हिय में षण्ढ विराग भरा है, है अनुताप, किन्तु है निष्क्रिय,
अब तो समय आ गया है तुम कर दो इसको सक्रिय, हे प्रिय ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
जुलाई, १९३६

उड़ चला

उड़ चला इस सान्ध्य नभ में,
मन-विहग तज निज बसेरा;
क्यों चला ? किस दिशि चला ?
किसने उसे यों आज टेरा ?

क्यों हुए सहसा स्फुरित, अति,
शिथिल, संश्लथ पंख उसके ?
क्या हुए हैं उदित नभ में,
चन्द्रमा अकलंक उसके ?
विकल आतुर-सा उड़ा है
मन - विहंगम आज मेरा ?

शून्य का आतुर निमन्त्रण,
आज उसको मिल गया है;
क्षितिज की विस्तीर्णता का,
पवन - अंचल हिल गया है

प्राण पंछी ने गगन में
ललक कौतूहल बिखेरा ।

स्वनित उड्डीयन ध्वनित - गति –
जनित अनहद नाद से यह
दिग्दिगन्ताकाश वक्षस्थल,
रहा है गूँज अहरह;

ऊर्ध्व गति ने ध्यान-मग्ना –
गीत-यति को आन घेरा ।
उड़ चला इस सान्ध्य-नभ में,
मन - विहग तज निज बसेरा ।

■

सिरजन की ललकारें मेरी !

धधक रहा है सब भूमण्डल,
भूधर खौल रहे निशि-वासर,
सखे, आज शोलों की बारिश
नभ से होती है झर-झर-झर;

घन-गर्जन से भी प्रचण्डतर
शतघ्नियों का गर्जन भीषण, –
घर्षण करता है मानव-हिय;
जग में मचा और संघर्षण;

नर ही स्वयं बना है नर के
रक्त-मांस का प्यासा भक्षक;
आज पुष्प - से मानव-हिय में
आ बैठा है कोई तक्षक ।

रक्त-भूमि बन गयी हाय, यह
पयस्विनी वसुधा मानव की;
शुक कपोत कोकिला कूजिता
कहाँ गयी वीथी माधव की ?

आज उठ रही है चिल्लाहट
नभ में त्राहि ! त्राहि !! के रव की,
स्वर्ग-भूमि हो गयी, सखे यह
मज्जास्थली घृणित रौरव की;

नर के नारकीय भावों ने
जगती में ऐसा खुल खेला –
कि यह विश्व बन गया निमिष में
एक भयानक मरघट-मेला !

जहाँ दौड़ते थे पहले नर
जीवन - दान मृतों को देने,
वहीं आज बढ़ते हैं वे ही
जीवित के प्राणों को लेने;

दारुण द्वेष दृगों में छाया,
मारण भरा किचकिचाहट में;
करुण, दया, स्नेह, वत्सलता,
कहाँ रही मानव के घट में ?

नाश – शकट अपने चक्रों से
चूर-चूर करता है जन को,
हिंसा की व्यालिनी उगलती
है विष, फैलाये निज फन को।

निविड़ और तिमिराच्छादित घन
निशि में नर तज तज अपने घर –
बने निशाचर, रेंग रहे हैं,
पेटों के बल झुका-झुका सर;
हैं बन्दूक़ – कारतूसों से,
किरचों – बमगोलों से, सज्जित,
उनकी कर्त्तव्यता – नाश है,
उनके हिय हैं रक्त-निमज्जित;
घनी रात कीचड़ धरती पर
नभ से गिरती मूसलधारें–
फिर भी रेंग रही हैं, देखो
द्विपद जन्तु की कई क़तारें !

वह देखो, खन्दक में सिकुड़ी–
सिकुड़ाई बैठी है पल्टन;
धरती माता की छाती पर
मृत्यु उगलती है मशीनगन;
दिग्-दिगन्तको कँपा रहा है
तोपों के गोलों का गर्जन,
सखे, खन्दकों में होता है
मानवता का पूर्ण विसर्जन।

तोपें धायँ-धायँ करती हैं
मानव हाय, हाय, करता है;
रणचण्डी के भरे लबालब
खप्पर से लोहू झरता है!

क्षण-क्षण में आकाश-बाण वे
तिमिर हटाते छूट रहे हैं;
थल को शोणित-पंकिल करते
बम के गोले फूट रहे हैं।

लो, मासूम नौजवानों के
छिन में चिथड़े उड़ जाते हैं;
लग जाते हैं ढेर शवों के
गीदड़ भी न उन्हें खाते हैं।

ख़ून-नरों का यही क़ीमती
ख़ून फैलता है धरती पर;
वही बना देता है कीचड़
धरती की मिट्टी में सनकर!

पंख लगाये, चीर कलेजा
नभ का, करती घर्घर-घर्घर—
वायुयान मिस गुर्राती वह
आयी मौत नरों के सर पर;

एक घृणा से देख रहा है
ऊपर से नीचे को सत्वर;
और दूसरा भीति-त्रस्त हो,
देख रहा नीचे से ऊपर;

यन्त्रारूढ़ हुए हैं दोनों;
दोनों भाई-भाई जूझे;
फूट गयी दोनों के हिय की
अपने हित की क्योंकर सूझे ?

बरसी आग, ज़हर भी बरसा,
गोले बरसे, सन-सन करते,
अरे मृत्यु को नभ से भू तक
छिन भी लगा न हाय, उतरते !

मार-काट के सभी वलवले–
पल-भर में काफ़ूर हो गये;
लिये भीति, विद्वेष हिये में
ख़न्दक़वाले वीर सो गये;

इतने ही में गगनविहारी
भी खा गये चोट गोले की
भू पर गिरे, उड़ गयी चिन्दी–
चिन्दी उनके भी चोले की

पर कब रुकी रक्त की लिप्सा ?
बढ़ती गयी बुझायी जितनी
प्राण स्तब्ध हैं देख-देखकर
जग में चढ़ा - ऊपरी इतनी;

युद्ध - भूमि की आग फैलती
आती है गाँवों - नगरों तक,
ध्वस्त हो रहे हैं शहरों के
गगनविचुम्बित उन्नत मस्तक;

इतनी सदियों के सिरजन का
हुआ जा रहा नाश क्षणों में
रे नर, क्या तू ने सोचा है,
क्या रस है इन गृह्य रणों में ?

वे प्रस्वेद - कणों से सिंचित
खेत लहलहाते प्रियदर्शन,–
हुए नेस्तनाबूद क्षणों में
जब यह हुआ अग्नि का वर्षण;
ग्राम्य शान्ति-सर की लहरें वे,
वह अलबेली जीवन-सरणी,–
लोहित सी हो गयी आज क्यों ?
कहाँ गयी वह जन-मनहरणी ?
हिंसा की लपटों से झुलसी
नर की चिर-निर्माणवृत्ति सब
क्षार हो रही है देखो तो
भूत-दया, चिर-नेह, सुकृति, अब ।

गाँव सभी वीरान हो रहे,
खेत हो रहे मरघट सारे,
उपजाने वाले निर्माता
बनते हैं नाशक हत्यारे,
यह कैसा है पट-परिवर्त्तन ?
यह कैसा स्वरूप-परिवर्त्तन ?
कौन पतित प्रेरणा जगी जो,
नर करता यों नाशक नर्तन ?

लुप्त हो चुका ग्रामीणों का
वह अलमस्त तराना मनहर,
अब तो उसकी जगह सुनाई
देती है चीत्कार भयंकर;

गाँवों-नगरों की गलियों में
लगे ढेर लाशों के कितने।
धूल - धूसरित हुए, हो रहे
हैं प्रासाद भव्य थे जितने;
बही नालियों में पानी की
जगह उष्ण शोणित की धारा,
नर, नारी, बालक, बूढ़ों को
भी न तनिक भी मिला सहारा;
मानव ने अपनापन खोया
उसने अपनायी दानवता,
भीषण संघर्षण में पड़कर
चकनाचूर हुई मानवता।

वे देखो माँएँ भयत्रस्ता,
लिये गोद में भावी मानव
जूझ रही हैं उसे बचाने,
उनसे, जो आये हैं दानव;
बालक लिये स्तनों को मुख में
फैलाये अपने विशुद्ध दृग,—
देख रहे हैं स्तब्ध-चकित-से,
ज्यों आखेटक को घायल मृग;

बच्चे कटे, ख़ून से उनके
हुआ जननियों का प्रक्षालन;
यों मानव ने किया कड़ककर
अपनी वत्सलता का ज्ञापन;

माँओं के जाये नर-रूपी
चण्ड राक्षसों ने आगे बढ़
छेद दिये स्तन, और दूध की
जगह ख़ूनकी धार चली कढ़ !

काटे गये वही स्तन जो थे
करते मानवता का लालन,
ख़ूब किया मानव-दानव ने
पुण्य मातृ-ऋण का प्रतिपालन।

आज क्रुद्ध मातृत्व दे रहा
है अभिशाप हमें निशि-वासर,—
कैसे प्रायश्चित्त करेगा
मानव, जो है हिंसक कायर ?

काटी माँएँ, छेदे उनने
कोमल बालक संगीनों पर,
बूढ़ों के भी टुकड़े करके
बने लोग भारी वीरेश्वर;

श्वेत केशयुत छिन्न मस्तकों
को निज बूटों से ठुकराकर,—
जग में किया प्रदर्शित कायर
मानव ने वार्धक्य समादर !

नैतिकता के सोपानों से
खटखट झटपट उतरा है नर,
और लात से ठेल गिरा दी
उसने स्वर्ग-निसैनी सत्वर;

बैठ वायुयानों पर अपने
वह बरसाता है ऐसे बम,
कि झट ग्राम-नगरों में भीषण
दावानल जल उठता इक दम;
मन्दिर, मसजिद, मठ, गिरिजाघर
रुचिर सदन जल उठते धू-धू;
लपटें आसमान को उठ-उठ
कर उठती हैं हा-हा-हू-हू !

सदियों की संचित संस्कृतियाँ
भस्म-रूप हो जातीं क्षण में,
निर्दय मानव ही मानव को
मिला रहा है रज के कण में !

यह कैसी विक्षिप्तता अरे ?
यह कैसा उन्माद भयंकर ?
जला रहे हम अपना ही घर ?
काट रहे हैं अपना ही सर !
कौन छिन्नमस्ता-प्रवृत्ति यह
जाग उठी मानव हिय-भीतर ?
कि जो आत्महत्या का भीषण
पाप ले रहे हम अपने सर;

क्यों देता है दाह अन्य को
यह नर स्वयं कष्ट में पड़कर ?
क्या मिल जाता है इसे, सखे,
अपने ही प्रियजन से लड़कर ?

कौन बड़ा उद्देश्य सामने ?
क्या है लक्ष्य दृगों में इनके ?
अरे, यही न कि मारें-काटें
निज स्वजनों को हीं गिन-गिनके ?

इतना घृणित ध्येय ! पर उसके
प्राप्ति-अर्थ यह कठिन तपस्या ?
यह कैसे हो सका सुसम्भव ?
बड़ी विकट है यही समस्या ।

यह अज्ञान भयंकर नर का,
ये निम्नगा वृत्तियाँ उसकी,
यही वजह है कि जो जल रही
जगती जैसे ढेरी भुस की।

हाय बना जग हिंसा-पूजक,
मज़ा आ गया है कुछ ऐसा—
सोच नहीं पाता है किंचित्
कि परिणाम निकलेगा कैसा ?

शोणित-तर्पण में ही उसको,
ऐसा कुछ आह्लाद मिल रहा ?—
कि वह रक्त की धाराओं में
उतराता-डूबता बह रहा;

कोई उससे नर कहता है :
हिंसावृत्ति बुरी है, भाई,
तो वह कह देता है : तुम हो
प्रगति-विरोधी, जन-दुखदाई !

हिंसा में विश्वास निरन्तर–
यही प्रगति का है क्या लक्षण ?
प्रगतिशील हिंसा के बल क्या
कर पायेंगे जन-गण-रक्षण ?

तलवारें यदि तुम बोओगे
तो तलवारें ही उपजेंगी,
सर्वनाश कर देंगी जग का
अयुत युगों तक वे दुख देंगी;

है लोकोक्ति पुरानी यद्यपि
फिर भी है सत्यता - विमण्डित;
'जो तलवार चलायेंगे वे
तलवारों से होंगे खण्डित' !

वे कहते हैं : 'हम हिंसा के
लिए नहीं हिंसा के हामी;
हम तो जन-गण उद्धारण के
हेतु बने हिंसक निष्कामी !

आज देख लो, हम हिंसा के
बल लाये हैं नवयुग जग में;
आज प्रगति क्रीड़ा करती है
वीर रूसियों के डग-डग में;

है आदन्त शस्त्र-सज्जित जग;
तुम हो कौन ? कहाँ से आये ?
इस गत आश अहिंसा का तुम
क्या बेवक़्त सँदेसा लाये !

हटो सामने से तुम वरना
टुकड़े-टुकड़े हो जाओगे;
व्यर्थ बरबराओ मत, वरना
हाथ प्राण से धो जाओगे;
अरे, अहिंसा का इस जग में
कौन काम ? है कुटी धर्म वह;
रक्तपान-रत शोषक जग में;
हिंसा ही है परम कर्म यह;
आज शस्त्र-आयुध-मय जग के
अति कराल दंष्ट्रों के नीचे,—
मानव-मुक्ति दबी, न खिंचेगी;
अरे अहिंस्र, तुम्हारे खींचे !

है सिद्धान्त आदि से प्रचलित
नीति-शास्त्र का बड़ा पुरातन;
अन्तिम लक्ष्य, कार्य-साधन को,
सदा बना देता है पावन;
मानवता के इस शोषण का
उन्मूलन है ध्येय हमारा
मानव मुक्ति प्राप्त करना ही
प्रेय हमारा, श्रेय हमारा;

हम बम के गन-पिस्तौलों के
वाहक हैं, संचालक भी हैं,
हम हिंसक विप्लवकारी हैं;
हम जनगण प्रतिपालक भी हैं।

हम क्यों हैं हिंसा-विश्वासी ?
क्या हम हैं ख़ूँख़्वार जानवर ?
हम क्यों असि-धारण करके यों
चले खेलने आज प्राण पर ?

हम क्यों हैं, घुटनों-घुटनों तक,
लोहू की नदियों में तैरे ?
क्यों ? हमने शोणित का यों यह
तिलक लगाया साँझ-सवेरे ?

क्या हम ख़ूनी हैं ऐ शिक्षक,
मुँह न चिढ़ाओ आज हमारा ?
हैं उपदेश तुम्हारे कोरे;
हमने भी है तत्त्व विचारा।

जग के अनाचार का मन्शा
है यदि यही कि ख़ून बहे नित,
तो हम कहते हैं : हममें है
रक्त - स्राव - सामर्थ्य अपरिमित;

हमें नहीं परवाह ज़रा भी,
हम भी हैं तैयार सुसज्जित;
हैं ध्रुव चरण हमारे सन्तत,
हिय में है विश्वास अनिंगित;

हम शोणित-वैतरणी का भी
करने को सन्तरण खड़े हैं
लगी हुई है इन प्राणों की
बाज़ी, हम तो जुटे पड़े हैं।

हिंसा और अहिंसा की यह
तत्त्व-दीपिका मत समझाओ,
तुम छोड़ो यह नाद व्यर्थ का,
चलो, चलें संग, तुम-हम आओ;
इस हिंसक साम्राज्यवाद के
बड़े-बड़े तानाशाहों की –
गरज रही हैं भीषण तोपें,
क्या बिसात है वाँ आहों की ?

गर मानवता रोती है तो
रोये; क्या परवाह उन्हें है ?
तुम हो कौन खेत की मूली ?
कौन तुम्हारी आह सुने है ?

हमसे तो तुम खूब कहोगे;
ज़रा कहो उनसे भी जाकर,
ज़रा देख लो क्या होता है,
उन्हें अहिंसावाद सुनाकर ?
वे ये साधुपने की बातें,
सुनकर मुँह फेरेंगे अपना;
या फिर अट्टहास सुन उनका
होगा भंग तुम्हारा सपना;

पूर्ण शान्ति-सन्देश ज़रा भी
आज नहीं सुनने का यह जग;
हिंसामय है जन-शोणित-कण;
हिंसामय उनकी नस रग-रग;

ज़रा देर तुम ख़ुद अपना ही
हृदय चीर करके गर देखो,
कुछ तटस्थतामय वैज्ञानिक
गति से तुम निरखो अपने को

तो तुम देखोगे कि अहिंसा
निपट पराजयवाद मात्र है :
यह तव नैतिक पात्र हिरण्मय
केवल इक मृत्तिका पात्र है;

आज अहिंसा तुम कहते हो,
इसीलिए न कि विजित हुए हो ?
सूझी यह विधि, क्योंकि पराजय–
वाद-पंक में निहित हुए हो।

सचमुच कहना यदि तुम होते
इस विशाल से गृह के स्वामी –
तब भी इसी अहिंसा के क्या
तुम सचमुच बनते अनुगामी ?

तब तो राजदण्ड धारण कर
तुमको हिंसक बनना पड़ता;
तुम आँखें निकालते जग की,
गर वह तुमसे आकर लड़ता;

किन्तु पराजित हो, बस इससे
आज अनुत्तरदायी हो तुम,
अतः अहिंसा की मदिरा के
आज बने मधु-पायी हो तुम;

आँखें खोल ज़रा तो देखो,
यह नर क्या है इसे विचारो,
फिर तुम यहाँ अहिंसा साधो;
तब तुम पूर्ण शान्ति-व्रत धारो;

नर क्या है ? केवल कुछ आदिम
प्रबल भावनाओं की ढेरी,
है नर की रुझान युग-युग से
निम्न - वासनाओं की चेरी;

शोणित औ' मज्जा से लथपथ
है नर के नख, चरण और रद;
नर क्या है ? सोचो नर तो है –
काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, मद।

इसी वासना-पुंज जीव को
क्या तुम देव बनाने आये ?
आज इसी के लिए कहीं क्या
तुम यह शान्ति-सँदेसा लाये ?

मानव सदा रहेगा मानव,
है प्रयास सब व्यर्थ तुम्हारा,
नहीं समझ पायेगा कोई,
है दुरूह-सा अर्थ तुम्हारा;

क्यों अरण्य-रोदन करते हो ?
व्यर्थ न अश्रु बहाओ अपने;
होंगे ढेर वक़्त आने पर
तव जीवन भर के सब सपने।

एक महा मानव जगती में
उन्निद्रित-सा ध्यान लगाये,–
श्रवण कर रहा था यह सब कुछ
बड़े जतन से कान लगाये;

सुनकर इन सब उद्‌गारों को
तड़प उठा उसका अन्तस्तल,
और हो गया निमिष-मात्र को
कुछ विचलित-सा वह चिर अविचल;

अपने अज्ञानी जन-गण के
प्रति उसने कुछ ऐसे ताका,
मानो लोक की संचित
करुणा ने नयनों से झाँका।

फिर सागर–गम्भीर गिरा से
उच्चारित कीं वचनावलियाँ–
अथवा घृणामयी जगती को
अर्पित कीं सनेह अंजलियाँ :

'मानव, तुम तार्किक हो, लेकिन
तर्क नहीं निस्सीम अपरिमित,
उसकी भी सीमाएँ हैं, पर,
उनसे शायद तुम न सुपरिचित;

मत अवलम्बित रहो तर्क पर
तर्क-सूत्र का कौन सहारा,
कहीं न हेत्वाभासों में ही
उलझ जाय यह जीवन सारा।

अरे, विहग – अवलोकन के मिस
उट्ठो ज़रा सतह से ऊपर,
अपने डैने फैलाकर कुछ,
नापो भूधर, सागर, अम्बर,

एक दृष्टि में मानवता को
देखो, उसकी कुगति निहारो;
आज हमारी विकट समस्या
क्या है, इसको ज़रा विचारो;

यदि तुम गहरे में पैठो तो
देखोगे कि प्रश्न है भारी,
केवल शोषण–उन्मूलन ही
नहीं समस्या एक हमारी;

माना तुम दलितोद्धारक हो,
माना तुम हिंसक निष्कामी,
पर क्या तुम जन-उद्धारण-हित
आज बने हिंसा के हामी ?

हिंसा से जन-मोक्ष मिलेगा ?
इतनी सुलभ मुक्ति मानव की ?
तब तो भाई बड़ी सुलभ है
बन्धन-खण्डन-विधि इस भव की;

क्या है मुक्ति ? ज़रा तो सोचो,
अर्थ-दास्य ही क्या इक बन्धन?
अरे, रूस में भी तो अब तक
उठता है मानव का क्रन्दन !

संस्कृति की पूर्णता कहाँ है ?
क्या है चरम सभ्यता नर की ?
भौतिक सम्पन्नता मात्र ही
शोभा नहीं मनुज के घर की;

मनोविकार - दमन ही केवल
माप-दण्ड है चिर - संस्कृति का;
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, भय
शाश्वत रिपुदल है संसृति का,

जब तक अवश रहेंगे ये रिपु
तब तक कहाँ नवल युग जग में ?
बन्धन ही बन्धन उलझेंगे
इस मानवता के पग-पग में ।

निशिवासर मदनुष्ठानों के
लिये निरन्तर तन्मय खपना,
वर को सत्य सन्ध करने के
लिए कर्म-धूनी में तपना;

यही परम पुरुषार्थ सनातन,
है बस यही कर्म श्रेयस्कर;
अपने बन्धन से विमोक्ष निज,
इसी तरह पा सकता है नर;

बुद्धि-विलासी हुआ जीव यह,
रुका सहज नैतिक विकास-क्रम
बढ़कर मस्तिष्क ने हृदय के
आगे फैलाया है सम्भ्रम;

अर्थ-दास्य से मुक्ति-मात्र क्या
फैला सकती है सुख जग में ?
जब कि अर्थ एषणा घुसी है
इस मानवता की रग-रग में ?

जन-शोषण-विनाश-क्रम केवल
नहीं बहिस्साधनावलम्बित;
है सर्वथा असम्भव जब तक
अन्तस्तल भी हो न अकम्पित;

इस आन्तरिक शुद्धि का तुमने
क्या उपाय सोचा है ? बोलो ?
अपने क्रान्तिवाद को लेकर
सत्य-तुला पर तो कुछ तौलो;

यह क्रान्ति है कि तुम करोगे,
हिंसा से हिंसा का मर्दन ?
क्रान्तिवाद क्या यही कि घहरे
इधर-उधर तोपों का गर्जन ?

सोचो तो यह क्रान्ति कौन-सा
पावन नवल सँदेसा लायी ?
नभ का वक्षस्थल तो यों ही
सदियों से कम्पित है भाई;

उसी 'कण्टकेनैव कण्टकम्'
को फिरसे तुम दुहराते हो,
घावों को गहरा करते हो,
उन्हें कहाँ तुम सुहराते हो ?

अरे मत कहो कि यह अहिंसा
निष्प्रभ कुटी-धर्म है कोरा,
इसे समष्टि रूप देने में
मैंने निज को है झकझोरा;

मेरी सत्य अहिंसा में है
गति, उद्यम, बल, ओज, निराला;
मैं हूँ महाक्रान्तदर्शी नर,
मेरी क्रान्ति निपट विकराला;

शोणित-पायी इस जग भर को
देता हूँ मैं अमृत-पात्र यह,
रूढ़िवादियों को ललकारा
मैंने देकर नया शास्त्र यह;

मेरे हिय-मन्थन से निकला
यह रस रुचिर पुरातन चिर नव;
आज नये अधिकरणों में मैं
जग को देता हूँ यह आसव;

कहता हूँ जब तक न बनेगा
यह नर नारायण का प्रतिनिधि,
तब तक व्यर्थ सिद्ध होगी यह
जगन्मोक्षकारी सब गति-विधि;

कितने वरदानों को हमने
भ्रष्ट किया, क्या कभी विचारा ?
कितनी विधियाँ हम ले डूबे ?
साक्षी है इतिहास हमारा;

जब तक वैयक्तिक-सामाजिक
आचरणों में भेद रहेगा–
जब तक व्यष्टि - समष्टि धर्म का
स्रोत अलग से यहाँ बहेगा,–

अरे सत्य-शान्ति की सरणि जब
तक न विश्व-व्यापिनी बनेगी,–
जब तक न यह नदी छोटी, जग–
प्लावक मन्दाकिनी बनेगी,–

जब तक बुद्धि और नैतिक बल
गलबहियाँ डाले न चलेंगे,–
तब तक ईति-भीतिके दानव
मानवता को सतत खलेंगे।

शोणित-मय युद्ध-प्रवृत्ति का
यह नैतिक पर्याय महाबल, –
आज रक्त के प्यासे जग के
सम्मुख रखता हूँ मैं अविचल;

है ब्रह्मास्त्र अहिंसा मेरी
तेजपुंज बलशाली, गतिमय
ऊर्ध्वगामिनी, क्लेशहारिणी,
वरदायिनी बनाती निर्भय;

तुम जन-शोषण-उन्मूलक हो ?
मैं कब हूँ शोषण का पोषक ?
पर तुम शोषक के नाशक हो,
मैं शोषण-भावों का शोषक;

तुम सामाजिक परिवर्त्तन के
ही केवल सन्तत विश्वासी
पर मैं सामाजिक-वैयक्तिक
परिवर्तन का हूँ अभ्यासी

कहता हूँ सामाजिक ढाँचा
बदलो, उसमें हो परिवर्त्तन,
किन्तु साथ ही व्यक्ति-भावना
में भी हो नव जागृति-नर्तन;

यदि न ऊर्ध्वगामिनी बनेंगी
वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ सारी,
तो सामाजिक परिवर्त्तन की
होने लग जायेगी ख्वारी।

केवल बाह्य उपकरण के ही
नहीं बदलने के नर-नारी,
उन्हें न कर पायेगी जाग्रत
यह हिंसा-विधि सतत तुम्हारी,

इसीलिए मम प्रबल अहिंसा-
तत्त्व तुम्हारे सम्मुख आया,
जिससे मानव एकरूप हो
भूले अपना और पराया;

अन्तर्राष्ट्रीयता असम्भव
जब तक मन में ख़ूँख़्वारी है,
सामाजिक कल्याण न होगा
जब तक हिंसा हत्यारी है;

हिंसा में विचार-मन्थन का
समय नहीं, अभ्यास नहीं है,
हिंसा में सान्तता भरी है,
वाँ, अनन्त अवकाश नहीं है;

बिना सदाशय-मय प्रणोदना
के न समुन्नत होगा मानव,
कैसे हिंसा से हो सकता
पराभूत जन-हिय का दानव ?

हिंसा से वह और भड़क कर
प्रतिहिंसक बन तन जायेगा;
बिना शान्ति के कैसे उसका
हिय-परिवर्त्तन आ पायेगा ?

निश्चय मानव - मुक्ति दबी है
विकराली डाढ़ों के नीचे,
पर वे डाढ़ें दबी हुई हैं
लिप्सा के हाड़ों के नीचे

जब तक लिप्सा के जबड़ों की
हड्डी नहीं बदलती है, नर,–
शोषण - डाढ़ों से मानवता
तब तक नहीं निकलती है, नर;

तुम कहते हो! डाढ़ तोड़ना
ही है केवल ध्येय हमारा;
मैं कहता हूँ! लिप्सा जबड़ों
का परिवर्तन श्रेय हमारा

नीति - शास्त्र को न दो दुहाई
कि शुभ ध्येय है साधन-पावन,
ध्येय वही हो जाता है शुभ
जिसमें जब रम जावे जन-मन;

इधर क्रान्तिकारी कहते हैं
अपने लक्ष्यों को जन-रंजन;
उधर घोर तानाशाहों ने
कहा स्वलक्ष्यों को दुख-भंजन;

दोनों निज-निज लक्ष्यों की ही
पावनता के अतुलित बल पर
निज पाशविक कार्यशैली को
बतलाते रहते हैं शुचितर;

अन्तिम लक्ष्य बना देता है
पतित साधनों को भी पावन ?
यह सिद्धान्त निपट मिथ्या है,
न लें सहारा इसका जग-जन;

जो साधन नर के शोणित से
लथपथ, वे कब हैं श्रेयस्कर ?
आओ, जग-जन, आज त्याग दें
यह सिद्धान्त, कुरूप, घृणाकर;

हिंसक विप्लवकारी होना
है विप्लव का अन्तिम तर्पण;
विप्लव में नवरस होता है;
हिंसा है पौराणिक चर्वण

मत समझो मैं चिढ़ा रहा हूँ
यह कहकर मुँह आज तुम्हारा;
मत समझो मैं समझ रहा हूँ
तुमको पापी या हत्यारा;

तुम हो प्रबल लोक-संग्राहक,
तुम प्रचण्ड उद्बोधनकारी,
तुमने दी हैं मानव के हित
रक्तांजलियाँ न्यारी - न्यारी

तुम तो मम समानधर्मा हो,
उग्र सरफ़रोशों की टोली,
तुम कब झिझके ? हाँ, तुमने कब
कायरता की बोली बोली ?

तुम महान् स्वप्नों के द्रष्टा,
तुम प्राणों के वीर खिलाड़ी,
तुमने अपने हुंकारों से
शोषकगण की छाती फाड़ी;

इसीलिए तुमसे कहता हूँ
सुन लो वीर बाँकुरे भाई,
आज साधनों की अशुद्धता,
देखो, हमें कहाँ ले आई ?

हिंसा की शब्दावलियों का
लिये सहारा क्यों बढ़ते हो ?
अरे शस्त्र-सज्जित होकर क्यों
मनुज-मोक्ष के हित लड़ते हो ?

ज़ग का अनाचार ख़ूनी है,
हम क्यों बनें ख़ून के प्यासे ?
यदि जग रोता जाये तो क्या
हम भी होंगे यहाँ रुआँसे ?

अरे, हमें तो शान्ति-सौख्य का
देना है वरदान नरों को,
ध्वस्त नहीं, निर्मित करना है,
हम को गाँबों को, नगरों को;

आज ख़ून का नहीं अमिय का
वर्षण करने यहाँ पधारो,
आओ, इस झगड़े के नीचे
अहो, वीर, यह जगत उबारो;

तानाशाहों की तोपों को
ख़ूब गरज लेने दो मन-भर–
हम भी तो तोपों का चारा
बने खड़े हैं अडिग चरण धर;

क्या इन तोपों के गर्जन का
है जवाब तोपों का गर्जन ?
नहीं, बन्धु, इसका जवाब है
सन्निष्ठों का प्राण - विसर्जन;

इसीलिए भीषण तोपों के
गर्जन की न करो तैयारी
भूल - भुलैया में पड़कर मत
दिखलाओ अपनी लाचारी

क्या कहते हो कि मैं सुनाऊँ
तानाशाहों को स्वर अपना ?
ख़ूब जानता हूँ न सुनेंगे
वे मुझ एकाकी का सपना;
पर, तुम क्यों यों उपालम्भ यह
मुझे दे रहे हो सहधर्मी ?
मैं तो जग को आज बनाने
निकला हूँ अपना सहकर्मी;
विनिर्मुक्त सन्देश क्लेशहर
सुनें जिन्हें सुनना हो जी-भर,
और उपेक्षा करें वे जिन्हें
कँपा रहा हो भव-भय थर-थर;

मेरा स्वप्न उपेक्षाओं से
नहीं टूट सकता है यों ही,
जगन्मोक्ष की यह आकांक्षा
कभी छूट सकती है यों ही ?
आज तुम्हें भी मेरी आहें
जँचती है बेकार, असम्भव ?
पर, विकराल क्रान्तदर्शी मैं,
मैं क्यों सुनूँ उपेक्षा की रव ?

मेरी जड़ें गहन भावी के
गर्भ देश लौं पैठी हैं, नर,
मैं वह नहीं उगाता है जो
सरसों को कर - सम्पुट में भर;

मेरी चिर - मानिनी अहिंसा
नहीं पराजयवाद - जन्य यह;
कहाँ अहिंसा सर्वविजयिनी,
कहाँ पराजय अति जघन्य यह !

सबसे बड़ी आत्मजय जग में,
उसका यह प्रसाद दुखहारी,
इसे पराजयवाद समझकर
ठुकराते हो विप्लवकारी ?

सोने को समझा है माटी
तुमने बिना परीक्षा के ही ?
कोई बात कही जाती है
यों ही बिना समीक्षा के ही ?

अगर अहिंसा का सामाजिक
सदुपयोग है विजित - वाद ही, —
तो फिर सत्य, न्याय, संयम का
सदाचरण होगा प्रमाद ही;

तब तो हिय की सकल मधुरिमा
क्षीण - शक्तता का लक्षण है,
और शक्ति का रूप भयंकर
दुराचरण ही दुराचरण है;

कैसा है यह तर्क ज़रा तो
सोचो - समझो अपने मन में,
मानो जीवन - तत्त्व भरा है
चरम पाशविकता - गर्जन में ?

अरे, क्या कहा ? हिंसामय है
जनगण के शोणित के कण-कण ?
यदि जग हिंसामय होता तो
कैसे होता उसका पोषण ?

अन्य प्राणियों-सा यह नर भी
लुप्त हो गया होता कब का,
रंच पता भी कहीं न होता
जन संस्कृति का औ, हम सबका;

हृद्गत स्नेह अहिंसा के बल,
बन्धु, जी सका है अब तक नर,
जीवन - धारण किये हुए है
सर्वविनाशों से भी घिर कर;

हिंसा और अहिंसा दोनों
प्रकृति-सिद्ध गुण हैं मानव के,
विष, मधु, दोनों ही निकले हैं
मन्थन-सार हृदय-अर्णव के;

एक राक्षसी क्रीड़ा है तो
दूजा है देवत्व दिवाकर;
एक निम्न गति प्रेरक है तो
बना अन्य सोपान ऊर्ध्वचर;

हमें खींचना है मानव को
ज़ोर लगा नीचे से ऊपर,
क्योंकि ऊर्ध्व गति में ही पाता
यह नर निज स्वरूप चिर-सुन्दर;

मत पूछो, मुझ से क्या करता
यदि मैं होता राजदण्ड-धर,
यदि ऐसा होता तो शायद
नये चमकते चन्द्र-दिवाकर;

यदि निज गृह का स्वामी होता
तो ये सारे आयुध जग के,—
कुण्ठित — से दिखलाई देते
कण्टक हट जाते जग - मग के;

यदि ऐसा होता तो होता
इस जग का विश्वास और ही,
तब निश्शस्त्रीकरण सभा का
वन जाता इतिहास और ही

मेरा वह सपना है जिसको
मैंने देखा बड़े जतन से,
जिसे देखने की चेष्टा में
लगा रहा प्राणों के पण से;

रुधिर - विनाश - मृत्यु - मण्डित इस
हिंसा - प्रेरित जगतीतल में,—
मेरी यह ललकार गूँजती
है इस घृणामयी हलचल में :

मानव अपने को पहचानो,
सुवन नहीं तुम हिंसा-लालित
मधुर अहिंसा के पय से तुम
हो आचरण शीर्ष प्रक्षालित;

मैं हूँ कहाँ ? बन्धु, मैं तो हूँ
खड़ा हुआ ज्वाला पर्वत पर,
जिसके गर्भ देश में स्फोटक
द्रव्य पिघलकर करते घर्घर;

भाफ, धुआँ है लपटें भी हैं
मँडराती है आग भयानक,
कौन जानता है ? क्षण में ही
हो जाये विस्फोट अचानक;

क्षण में ही बन सकती संसृति
भस्मीभूत राख की ढेरी
प्रलय - क्षिप्त वसुधा है; लेकिन
सिरजन की ललकारें मेरी !

इस आग्नेय शिखरपर संस्थित
अडिग अहर्निश हूँ प्रयत्नरत :
कर दूँगा शुचि स्फटिक शिला में
इस ज्वाला भूधर को परिणत;

ख़तरा है, भय है, कि कहीं यह
भड़क न उठे आग अन्तर की,
किन्तु क्रान्तदर्शी ने कब की
चिन्ता असफलता के डर की ?

असफलताएँ तो आयी हैं,
फिर भी प्रगति हुई है जग की,
रही सदा से ही जन-सेवा
क्रीड़ा-केलि क्रुद्ध पन्नग की।

यों वचनों को उद्गीरित कर
हुआ महामानव प्रशान्त कुछ,
और हुआ जग को भासित यों
मानो आया है निशान्त कुछ;

ध्रुव विश्वास, अडिग निष्ठा यह,
अविचल मार्ग-क्रमण निरन्तर,
शुद्ध-बुद्ध तत्त्वार्थ निरूपण,
एक रूप बाहर-अभ्यन्तर;

मैत्री, दया और करुणा से
आप्लावित है जीवन सारा,
निश्चय ही नवजीवन देगी
उसके शुभ विचार की धारा;

सखे, कौन यह आत्मजयी है ?
अरे कौन यह पुण्य महा नर ?
अपने एक-एक ध्रुव डग में
नाप रहा जो सागर-अम्बर ?

जिसके उदधि-गभीर वचन में
यह नवीन सन्देश समाया,–
है वह कौन लोक का वासी ?
इस डगरी में कैसे आया ?

इस शोणित लिप्सा से त्रस्ता
जगती को वरदान दिया है;
ज़रा सुनो, उसकी वाणी ने
कैसा नर-कल्याण किया है;

मृण्मय बने हिरण्मय छिन में
उसके पावन परस मात्र से
मृत-प्राय भी अमृत हो उठे
केवल उसके दरस-मात्र से;

वे आजानु भुजाएँ उसकी,
ले अंजलियों में प्रसादकण,—
आज कर रही हैं जगती में,
शान्ति, अहिंसा, ऋत का वितरण;

भर कर शुभ वरदान दृगों में,
शिर पर ले अभिशाप जगत का,
मुसकाता है खड़ा, भरे निज
हिय में अडिगपना पर्वत का;

इस यथार्थवादी जग-मग में
विचर रहा आदर्श लिये वह,
परिपाटी को तोड़ चला है
नवल विचार-विमर्श लिये वह,

इस हिंसा की गत-अनुगतिकी
प्रबल श्रृंखला को खण्डित कर,—
नयी प्रणाली चला रहा है
वह सुकर्म योगी पण्डितवर;

एक क़रिश्मा-सा होता है
जग-जन की आँखों के आगे
सनकी उसे कहो या कुछ पर,
भाग आज जगती के आगे;

लुप्त हो गयी है इस जग में
अरे स्वप्न-दर्शन की क्षमता,
निपट वास्तविकता - वादी में,
कहाँ लोम-हर्षण-मय ममता ?

उल्का बरसानेवालों में
कहाँ अमिय - वर्षण की क्षमता
रुधिर - लोलुपों में कब आयी
नव विचार - संघर्षण - समता ?

आज नवल संघर्षण का यह
इसने मार्ग बताया बेढब,–
अपने शस्त्र फेंक दे, रे, जग,
अनुभूत आया विप्लव अब;

मानव की विचार-धारा में
आयी नूतन महाक्रान्ति यह,
जगन्मोक्ष-दायिनी बनेगी
सत्य-अहिंसा-पूर्ण शान्ति यह;

सखे, आज इस महापुरुष ने
देखा है कुछ ऐसा सपना,
कि सब भेद मिट गया; हो गया
एकाकार पराया अपना;

आज उड़ा ले ख़ूब मज़हका
जग चाहे उसकी बातों का,
पर, उसके ही कर से होगा
पूर्ण नाश जग की रातों का;

जग-जन के शंका-मेघों से
आवृत है उसका विचार-रवि,
नहीं देख पायी है जग ने
उसकी शुद्ध, ज्वलन्त ज्योति छवि

फिर भी निबिड़ गहन तम-भंजन –
कर किरणें आ ही जाती हैं,
और एक उल्लास-प्रेरणा
नर-हिय में छा ही जाती है,

हट जाते हैं ज़रा देर को
जब सन्देहों के दल बादल, –
तब होता है ज्ञान कि चिरपद
पा सकता है मानव दुर्बल,

उसके नयनों में सपना है;
कर में हैं वरदान अनेकों,
अपनेपन को होम - होम कर
पाया है उसने अपने को,

यम - नियमों के नागपाश से
बाँध विराग मेरु, धीरज धर
हिय समुद्र - मन्थन कर, लाया
वह यह अमृत शुद्ध, शुचि, भयहर;

एक लँगोटी के बल उसने
किया दिग्विजय जगतीतल में;
नव्य मार्ग - निर्माण किया है
शोणित सिंचित इस दलदल में;

देकर अपने दाँत कर लिया
दुर्दान्तों को भी अपने वश,
एक, दो, नहीं, अरे किये हैं
अपने वश सैन्धव ये दश - दश;

निज सीमित पंजर में उसने
किया बद्ध निःसीमा को भी,
शान्त देह में भी देही वह
हुआ अनन्त टोह का लोभी;

उसका जीवन सदा सत्य के
शुद्ध प्रयोगों की शाला है,
जग टटोलता है अपना पथ,
उसके कर में उजियाला है;

अपनी विषमय फुफकारों से
जग ने अपना दीप बुझाया,
और काटने दौड़ा उसको
जिसने उसे सुपन्थ सुझाया;

आज अँधेरे में जग अटका,
अपने ही जंगल में भटका;
मार्ग-भ्रष्ट होते ही उसको
लगा खूब झटके पर झटका,

ऋषि कहता है : मार्ग इधर है,
मेरे कर में है उजियाला;
जग कहता है : पागल तेरे
उजियाले में है अँधियाला;

वह है एक चुनौती जग को;
वह है एक प्रखर नैतिक बल;
वह है इक ललकार घोर-मय;
वह है एक शंकरी हलचल;

पोथा-पण्डित नहीं क्योंकि वह
स्वयं विचारों का दाता है;
वह क्यों चले पुराने पथ पर ?
वह नवयुग का निर्माता है ?

उसने आज अन्ध जग-जन को
दिये दान में सुन्दर लोचन,
जिससे वह कर सके वास्तविक
तथ्यों का विशुद्ध अवलोकन;

धन्य हुई है वसुधा वृद्धा,
मानवता भी धन्य हुई है;
उसके विप्लवमय प्रसाद से
भय - भावना नगण्य हुई है;

हम मिट्टी के पुतले भी बढ़
बढ़ लड़ गढ़ चढ़ने दौड़े हैं,
क्या ही फूँके प्राण कि हमने
सदियों के बन्धन तोड़े हैं;

आज उठी अश्रुत स्वर - लहरी
प्राची जगती के अम्बर में,
एक नवल उल्लास-वीचि है
उमड़ी यहाँ चराचर-भर में !!

■

बोल, अरे, दो पग के प्राणी

कब तक प्यार किये जायेगा,
बोल, अरे दो पग के प्राणी ?
क्षण-भर की स्थिति है जगती में
पल-भर की है यहाँ जवानी;
मत कर, रे, क्षण-भंगुरता में
तू आरोपित चिर अशेषता,
क्या स्थिरता? जब यहाँ बह रहा
पल-पल काल नदी का पानी,

यह विस्तृत दिग्देश अमित-सा,
महाकाश यह परम अगम-सा,
चपल समय-नद यह अनन्त-सा,
यह विकराल काल निर्मम-सा,
ये दिक्-काल-तत्त्व लगते हैं
जो कि सनातन, परम चिरन्तन,
ये भी तो हैं अन्तवन्त ही;
है आनन्त्य एक मति-भ्रम-सा ।

निपट शून्य से उठ आती है
हूक-भरी जो स्मृति अनजानी,
जो मथ देती है अन्तरतर,
जो करती हिय पानी-पानी,–
उसी सजल स्मृति से चूती हैं
क्या आनन्त्य-सुरस की बूँदें ?
यह भ्रम है ! रे मानव, तूने
क्यों अनन्तता की हठ ठानी ?

सुनकर यह ललकार तर्क की
हो दयार्द्र मानव मुसकाया
और अनेक युगों के सपने
वह निज नयनों में भर लाया,
कब बाँधी दिक्-काल-परिधि ने
मानव की उड़ान अलबेली ?
भावार्णव का थाह, कहो तो,
तर्क-वादिता ने कब पाया ?

जगती की क्षण-भंगुरता में
यदि न रहे आनन्त्य चिरन्तन,–
यदि न रहे निमिषों की गति में
नित्य सनातनता का कम्पन,–
तो इस सृति-मय सकल विश्व का
तिरोधान पल में हो जाये !
अरे नित्यता ही करती है
इस अनित्यता का गति-रंजन ।

यह, जो है चल, चपल, अनस्थिर,
यह जो है अतिशय क्षण-भंगुर
यह सब है अनन्तता का ही
किंचित परिर्वत्तित नव अंकुर !
यदि न रहे आनन्त्य सनातन,
तो फिर कहाँ रहे भंगुरता ?
यदि न सरल पथ की स्थिति हो, तो,
कैसे कल्पित हो पथ बन्धुर ?

जग की गमन-शीलता भी क्या
बिन स्थिरता के बुद्धि-गम्य है ?
और सतत 'परिवर्त्तन' में भी
क्या न 'नित्य' की छटा रम्य है ?
बिना नित्यता के सम्भव है
क्या अनित्यता का दिग्दर्शन ?
अरे तर्क, तव मूढ़-वादिता
क्या किंचित भी यहाँ क्षम्य है ?

किसका साहस है कि कर सके
मेरा स्नेह काल-दिक्-सीमित ?
कौन बाँधने आ सकता है
उसे जो कि है सदा असीमित ?
नित्य, सनातन, सदा शाश्वता
है मेरे हिय की रस-धारा,
और मदिर लोचन मम पिय
का चिर प्रसाद है अमित, अपरिमित

जिन कोमल भुज-वल्लरियों ने
बाँध मुझे चल, चपल क्षणों में,–
निमिषों को अनन्तता दी थी
अमिय भरा था रक्त-कणों में,
वे भुज-लतिकाएँ जगती से
लुप्त हुई हैं। पर, इससे क्या ?
अरे, हो गयी है अनन्तता
समाविष्ट इन प्राण-पणों में।

वह पीयूष-दान साजन का
वह रिम-झिम-रिम मधु-रस-वर्षण,–
वह उन्मादक नयन-निमन्त्रण
वह दृग्-निःसृत चिर आत्मार्पण,–
कौन कहेगा इन्हें कि ये हैं
केवल अचिर राग क्षण-भंगुर ?
होता है जिनकी स्मृति ही से
सन्तत रोम-रोम का हर्षण।

मम सनेह औ' मेरे प्रियतम
कब थे अन्तवन्त, बोलो तो ?
क्या न सुने वे स्वर जिनसे हैं
गुंजित दिग्-दिगन्त, बोलो तो ?
गहन राग-रस-निर्झरिणी में
तृण बन बही क्षणिकता चंचल;
क्या न हृदय की अमल भावना
है शाश्वत, अनन्त, बोलो तो ?

१३ बी० फ़ीरोज़शाह रोड, नयी दिल्ली
२९ मार्च, १९४७

यह रहस्य उद्घाटन रत जन

यह रहस्य-उद्घाटन-रत मन,
यह असफल जन, यह संश्लथ तन,
हिय में यह अम्बर-विहरण-रण
ये टूटे उड्डीयन-साधन ।

पंख नोच पटका मानव को
किसी खिलाड़ी ने धरती पर,
पर, होती रहती है उसके
अन्तर में पंखों की फर-फर;

पृथिवी माता ने पहनायी
उसे बेड़ियाँ आकर्षण की,
और, किसी ने सुलगा दी है
हिय में चिनगी संघर्षण की

परवश है, पर चाह रहा है
यह करना रहस्य-उद्घाटन,
यह आकुल मन, यह अति लघु जन,
पंख हीन यह, यह संश्लथ तन !

निगड़-बद्ध मानव के युग पद,
पाश-बद्ध मानव के युग भुज,
और सतत आक्रान्त किये है
उसे एक अभिशाप-ताप-रुज,

जिसे मेदिनी ने जकड़ा है,
तुच्छ समझता जिसे प्रभंजन,
और नियति ने डाल दिये हैं,
जिसके रोम-रोम में बन्धन,—

उसी द्विपद को, नील गगन ने
भेजा है उड्डीन-निमन्त्रण ।
गूँज रही है उसके हिय में
पंखों की सन-सन-सन-सन-सन!!

मानव रहा न जाने कितने
युग-युग लौं सोया-सोया-सा;
क्या हिसाब कितने युग से वह
विचर रहा खोया-खोया-सा ?
किन्तु नींद में भी तो उसने
देखे उड़ने के ही सपने !
औ' सन्तत विचरण में भी वह
रहा खोजता डैने अपने !
नहीं पा सका है अब तक भी
अपने पंख, और अपनापन,
यह रहस्य - उद्घाटन-रत मन,
यह असफल जन, यह संश्लथ तन !

क्या जाने कितनी लम्बी है
उसकी यात्रा की पगडण्डी ?
क्या जाने कितना कर आया
मार्ग-क्रमण अब तक यह दण्डी ?
नित देशाटन, सतत परिव्रजन,
सन्तत चलन, दिग्भ्रमण क्षण-क्षण,
सतत अतन्द्रित निमिष-गणन यह,
यह दिक्-काल-संकलन क्षण-क्षण,

यही रहा है मानव का क्रम,
यही नियति का है रेखांकन !
यह रहस्य - उद्‌घाटन - रत जन
कर-कर भ्रमण हुआ संश्लथ तन।

पीछे मुड़कर कौन निहारे--
कितनी दूर आ चुका मानव ?
करता है स्वीकार गणित भी--
इस दिशि अपना पूर्ण पराभव !

आगे की भी क्या गिनती हो,
जहाँ सकुचते हैं मन्वन्तर ?
जहाँ ब्रह्म - दिन भी छोटे हैं,
लघु हैं द्युति-वर्षों के अन्तर।

इस महान् दिक्-कालार्णव में
मानव करता सतत सन्तरण,
यह रहस्य-उद्‌घाटन - रत मन,
यह असफल जन, यह संश्लथ तन।

मानव की झोली में संचित
हैं कितने ही कंकड़ - पत्थर,
जो कुछ मिला पन्थ में, उसने,
वह सब उठा लिया है सत्वर,

यह सब संचित वोझ युगों का
टाँगे वह अपनी लकुटी पर,
झुका भार से चला जा रहा
नाप - नाप पथ - लीक निरन्तर !

इतने पर भी गूँज रहे हैं
हिय में 'नेति-नेति' के ही स्वन ।
यह रहस्य - उद्घाटन-रत जन
सुन-सुन होता क्षण-क्षण उन्मन !!

मानव ने विसृष्टि लीला लख
पूछा निज से 'का सा ? कोऽहं ?
मानव अपने अन्तरतर में
निरख कह उठा : 'साऽहं ! सोऽहं !'
इस 'कोऽहं ! सोऽहं !' की अब तक
रार मची है अन्तस्तल में,
नेति और इति जूझ रही हैं
मानव के इस हृदय विकल में !
यह रण व्यक्त कर रहे उसके
रोम-रोम, शोणित के कण-कण ।
है रहस्य - उद्घाटन - रत मन,
यद्यपि है संश्लथ मानव तन !

जगत्-रूप हृदयंगम करने
कहाँ-कहाँ दौड़ायी निज मति !
कितनी प्रखर साधना उसकी !
अति प्रचण्ड विज्ञान-ज्ञान-रति
एक-एक कर दूर हटाये
प्रकृति-नर्त्तकी के अन्तर-पट;
किन्तु अभी तक, इतने पर भी
मिटा न रंच यवनिका-संकट !

परदे में हो रही प्रकृति की
नृत्य चलित पौंजन की झन-झन !
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन
सुन-सुन होता क्षण-क्षण उन्मन !!

लीलामयी प्रकृति मानव से
खेल रही है आँख-मिचौनी,
औ' मानव है अपिहित लोचन,
जड़गुण-बद्ध, स्तब्ध, अति मौनी !
ऐसा खेल, कि रहता ही है
सन्तत दाँव इसी मानव पर,
मानव के शिर पर है मण्डित
जिज्ञासा - अभिशाप भयंकर,
कहाँ जाय ? किस दिशि यह झाँके ?
ढूँढ़े कहाँ ? किसे यह क्षण-क्षण ?
यह रहस्य - उद्घाटन - रत मन,
यह असफल जन, यह संश्लथ तन !

कभी कुहुक आयी अम्बर से
'ढूँढ़ो !' यों बोलो सब उडुगण;
मानव ने उद्ग्रीवी होकर
उधर उठाये अपने लोचन;
इतने में : 'ढूँढ़ो ढूँढ़ो' के
आये स्वर पाताल अतल से
मानव ने घबड़ाकर मोड़े
अपने युग दृग चकित अबल-से;

किन्तु उसी क्षण दिशि-दिशि गूँजा
'ढूँढ़ो - ढूँढ़ो' का यह गुंजन
किधर निहारे ? किसको ढूँढ़े,
यह बौराया - सा जन उन्मन ?

बाहर तो 'ढूँढ़ो - ढूँढ़ो' - की
सब दिशि यह गुंजार भरी है;
पर भीतर भी यही महाध्वनि
मन्थन शील, अपार भरी है;
लखो; चतुर्दिक् वह पागल-सा
आकुल मानव डोल रहा है;
अपने युग-युग के यत्नों को
निज दृग-जल में घोल रहा है,
उसे दिखाई पड़ा सभी दिशि
अपने हिय का सन्तत कम्पन ;
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
भ्रमित हुआ है, है संश्लथ तन ।

यह गभीर सृजनार्णव दुस्तर,
परम अगम, फेनिल, चिरपंकिल !
लहराते जिसके अन्तर में,
नित्य, सनातन प्रश्न - तिमिंगिल !!
'कुत आयाता इयं विसृष्टिः' ?
'क इह प्रवोचत् ? अहो वेद कः ।'
'अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्,
अंग वेद यदि वा न वेद सः ?'

अपना मुख फैलाये आये
सम्मुख ये चिर प्रश्न पुरातन !
यह रहस्य – उद्घाटन – रत जन,
है संश्लथ तन, है अतिउन्मन !

यों आयी बन अतिथि, मनुज के
हिय में, यह विदेशिनी पीड़ा,
यों मानव अपने को भूला,
भूल गया वह अपनी ईड़ा !

चिदानन्द मय अपनी सत्ता
उसने अपने – से बिसरायी,
प्रश्नों की उलझन में पड़कर
अपनी विपदा और बढ़ायी;

किन्तु अँजा है मानव-दृग में
ऊहापोह व्यथा का अंजन,
अतः रहस्योद्घाटन - रत जन,
है उत्सुक, यद्यपि संश्लथ तन।

मानव की जिज्ञासा की है
साक्षी स्वयं प्रकृति कल्याणी;
युग - युग से हुंकारें करता
चला आ रहा है यह प्राणी !

ये भीषण - दिक् - काल - अरर उस
ध्वनि - ध्मात से चिर कम्पित है
लख मानव के यतन निरन्तर
प्रखर प्रभाकर भी स्तम्भित है।

देख-देखकर इस वामन को
अमित चकित है नभ-तारक-गण;
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन
चला जा रहा है संश्लथ तन।

अम्बर काँपा, अवनी काँपी,
काँप उठे नभ के सब तारे,
इस मानव की 'न-इति ! न-इति !' सुन
सभी लोक - लोकान्तर हारे;
काल कँपा, आकाश कँप उठा
सुन-सुन इसकी 'न-इति' हठीली,
सब ने देखा : है मानव की
ग्रीवा उन्नत, यदपि लचीली !
इतिहासों के पन्ने भी हैं
मानव का कर रहे संस्मरण
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन
चला जा रहा है संश्लथ तन।

कोटि-कोटि ज्योतिर्वर्षों तक
फैला है विस्तार मनुज का,
कहाँ-कहाँ तक पहुँच चुका है
अति तनु मन इस द्विपद-द्विभुज का ॥
विस्तृत है इसकी लीला लघु
विद्युन्मणि से ब्रह्माण्डों तक;
इसके महाकाव्य की गाथा
पहुँची है अगणित काण्डों तक !

किन्तु पता क्या कितने गहरे
और करेगा यह अवगाहन ?
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
यह अति उन्मन, यह संश्लथ तन ।

अमित ज्ञान-भाण्डार, युगों के
यत्नों से, संचित कर पाया,
यह मानव निज रिक्त कोश को
नाना रत्नों से भर लाया;
जहाँ सभी दिशि इस अग-जग के
स्फुरणों में था केवल सम्भ्रम,
जहाँ अन्ध व्यस्तता मात्र थी,
वहाँ लखा इसने कारण-क्रम !
निरलंकृता प्रकृति को इसने
पहनाये नियमों के कंकण !
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
फिर भी फिरता है नित उन्मन;

किन्तु पैठ गहरे जो झाँका
तो नियमितता हुई तिरोहित;
केवल दैवायत्त भावना
होने लगी पुनः आरोहित;
अंशु - स्फुरणकारी पदार्थ कुछ
जग में मानव ने देखा है,
जिसे दीप्ति-सक्रिय तत्त्वों की
श्रेणी में उसने लेखा है;

होता रहता इन तत्त्वों के
अणुओं का नित संहति-भेदन !
जिसे निहार पूछ उठता है
'क्यों? क्यों??' इस जन का उन्मन मन !

जिसे कराल काल मेटेगा,
अहो कौन-सा अणुविशेष वह ?
क्यों संहति-भेदन होता है ?
क्यों होता है अणु अशेष वह ?
इन प्रश्नों का नहीं दे सका
उत्तर यह मानव विज्ञानी;
यादृच्छिक अणु - भेदन - लीला
अब तक नहीं किसीने जानी;
कहो, क्यों न अकुलाये मानव
देख-देख यह पटावरण घन?
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
पंख हीन यह, यह संश्लथ तन !

मानव ने विद्युन्मणियों को
देखा नयनों में अचरज - भर,
मानो विश्व आ गया सम्मुख
अपना मूर्त्त रूप ही तजकर;
ज्योति-किरण तो थी तरंगमय,
अब, घनत्व भी हुआ तरंगी !
मानो ऋण-विद्युन्मणियाँ ये
बना रहीं ब्रह्माण्ड अनंगी !

लुप्त हो रहे हैं क्या जग से
मूर्त्त-अमूर्त्त-रूप के बन्धन !
पूछ रहा है यों आकुल-सा,
यह रहस्य उद्‌घाटन - रत जन !

असन्तोष है इस मानव को
सारे जग के इस सपने से;
औ' जग की क्या करे शिकायत ?
असन्तुष्ट है वह अपने से ;
वह आया है करने इतने
ब्रह्माण्डों का तत्त्व-निरीक्षण,
किन्तु मिले हैं निपट अधूरे
उसे इन्द्रियों के ये लक्षण;
इतने क्षुद्र, असंगत इतने
ये विज्ञान - ज्ञान के साधन !
तब, फिर क्यों न हृदय में खीझे
यह रहस्य उद्‌घाटन - रत जन !

श्रोत्र, चक्षु, रसना, स्पर्शन, मन,
घ्राण, इन्हीं के बल यह मानव—
सुलझा रहा उलझनें जग की,
खोज रहा है अचरज नव-नव !
किन्तु साथ ही, नयी समस्या
मानव उपजाता जाता है;
एक प्रश्न सुलझा कि दूसरा,
उसके सन्निधान आता है;

साँझ, सवेरे, रहती ही है
सम्मुख एक पहेली नूतन,
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
उलझन में उलझा है प्रतिक्षण !

जाना है जग-रूप, मनुज ने,
इन लघु - इन्द्रिय - उपकरणों से;
कार्य और कारण की लड़ियाँ
उसने गूँथी हैं स्मरणों से,
पर, यथार्थता क्या है ?
यह जो है केवल इन्द्रिय-संवेदन ??
पूर्वोत्तर का घटना - क्रम ही
है क्या कारण - कार्य - विवेचन ?
ये प्रश्नावलियाँ सदियों से
करती हैं मानव - हिय - मन्थन;
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन,
यह संश्लथ तन, यह नित उन्मन !

ये इन्द्रियाँ कभी क्या देंगी
हमको यथार्थता का परिचय ?
नयनों से देखा है जिसको
है क्या वही वास्तविक निश्चय ?
प्रकृति विलोकी जब आँखों से,
तब, क्या देखी ? केवल झाईं !
तब अवलोकी इक छल - छाया !
देखी बस केवल परछाईं !

दृश्य सत्य है, तो सपना भी
है यथार्थ का पूर्ण प्रकेतन ?
यों विचार कर रहा युगों से
यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन;

नयनों ने घनत्व देखा था,
नयनों ने तारल्य निहारा,
पर, मानव के गहन ज्ञान ने
यह सब भेद मिटाया सारा,
अब देखा कि जगत् है केवल
धन औ' ऋण विद्युत्कणिका-मय;
औ', विद्युन्मणियाँ भी ऐसी
जिनका कठिन वास्तविक परिचय;
ऐसी मणियाँ, होता रहता
जिनका प्लवन बिना ही कारण;
तब फिर कारण-कार्य-तर्क का
जन-हिय से हो क्यों न निवारण !

यों इन्द्रियगण की परिगणना,
यों मन का घटना-संश्लेषण,
हिय को जँचे अधूरे ये सब,
ये जग के सब रूप-विशेषण !
किन्तु क्या करे ? थककर बैठे
क्या यह मानव हिय-हारा-सा ?
अपनी भौतिकता को कैसे
करे क्रमित यह बेचारा - सा

भूत ग्रस्त है जो, वह कैसे
भौतिकता का करे उत्क्रमण ?
यह रहस्य - उद्‌घाटन-रत जन,
सोच रहा है यों अपने मन !

क्या है स्रोत ज्ञान का ? पूछा
यों जब मानव ने अपने से —
तो आयी इक ध्वनि कि ज्ञान है
केवल इन्द्रिय के कँपने से !
बोल उठा भौतिक विज्ञानी :
हैं इन्द्रियाँ ज्ञान के साधन,
इनके बिना कहो कैसे हो
मानव का यह ज्ञानाराधन ?
मानव ने अपने स्वरूप के
सुने तर्कमय ये सब प्रवचन,
किन्तु तत्त्व - उद्‌घाटन - रत जन
पा न सका सन्तोष - शान्ति-धन

क्या हैं वे इन्द्रियाँ कि जिन ने
दिया ज्ञान-भाण्डार अतुल यह ?
या वे हैं केवल साधन ही ?
यों बोला मानव आकुल यह !
कहो, इन्द्रियों से ही केवल
ज्ञान - नोदना कैसे जागी ?
केवल यह उपकरण - समुच्चय
कैसे बना ज्ञान - अनुरागी ?

क्या विज्ञान-ज्ञान का दाता
है केवल इन्द्रिय संवेदन ?
पूछ रहा है आज अथक-सा
यह रहस्य-उद्‌घाटन-रत जन !

आदि मनुज ने लपट देखकर,
अग्नि बनायी सदन-लालिता !
वह थी कौन प्रेरणा जिसने
कहा : करो तुम वह्नि पालिता !

आदि मनुज ने पशुगण देखे,
उन्हें बनाया निज अनुगामी !
वह क्या थी प्रेरणा कि जिसने
कहा : बनो तुम इनके स्वामी ?

यह, जो आदि प्रेरणा हिय में
है यह भी क्या इन्द्रिय-स्पन्दन ?
अथवा यह है शक्ति अभौतिक ?
पूछ रहा है यों जन उन्मन !

अपने को उपकरण-समुच्चय
कैसे माने मानव प्राणी ?
जब कि विचार और चिन्तन की
उसने पायी अमर निशानी !

मनुज कर रहा है घोषित यों :
अरे, नहीं हूँ भूत संघ मैं !
मैं हूँ सांग, उपकरण संयुत,
पर फिर भी हूँ नित अनंग, मैं !

इसी नित्य प्राप्तव्य ध्येय की
ओर जा रहा है यह लघु जन,
यह रहस्य-उद्‌घाटन - रत मन,
पंखहीन यह यह संश्लथ तन !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
५ दिसम्बर, १९४३

■

नास्तिक का आधार

जब लहराता बहा समीरण, सर में उठी तरंग;
जब संस्मृति बयार डोली, तब हिय में उठी उमंग;
रवि-किरणों से नभ में चमका, इन्द्र धनुष का रूप;
प्रिय, तव स्मिति-द्युति से चमकी मम स्नेह-कल्पना-चंग !

हरित, नील, लोहित, नारंगी, श्याम, पीत सुर-चाप;
त्यों मम नेह-चंग पर चमकी तव रंगों की छाप;
ख़ूब उड़ाओ इसे, प्राण-धन, अपने अम्बर बीच;
तव क्रीड़नक बने, – इसकी है यह अभिलाष अमाप !

तव आधार रहे, तो फिर क्या विपदाओं की बात ?
तुम अनुकूल रहो विपदाओं की तब कौन बिसात ?
कुछ न बिगाड़ सकेगी मेरा अति प्रतिकूल बयार;
मैं हँसते-हँसते सह लूँगा झंझा के आघात !

प्रिय, मैं जानूँ हूँ, है अति ही दुर्वह मेरा भार,
पर, अब तो मैं आन पड़ा हूँ विवश तुम्हारे द्वार;
आस्तिक कहते हैं : उनका है हरि के हाथ निबाह;
मैं नास्तिक कहता हूँ : मेरा भी है कुछ आधार !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१ मई, १९४४

यथार्थवादी

मुझे लग रहा है यह मेरा जीवन विफल महान्,
फटा-फटा-सा मुझे लग रहा निज अस्तित्व - वितान;
सभी ओर से जुट आयीं हैं असफलताएँ आज
कहाँ गया वह सृजन-परिश्रम ? कहाँ नवल निर्माण ?

अपना, अथवा अन्य जनों का हो न सका उत्थान,
निपट अहैतुक रहा समूचा जीवन - कर्म - विधान;
कुछ अपना, कुछ निखिल राष्ट्र का, ऐसा घूमा चक्र,
कि न आ सका विहँसता, मेरे नभ में रजत विहान !

स्वार्थ, परार्थ, रहे हैं दोनों ही अब तक अप्राप्त,
और इधर होनेको आया मम दिनमान समाप्त;
बढ़ता जाता है असफलता का यह अन्धःकार;
क्यों न फटे हिय, जब रह जाये अवाप्तव्य अनवाप्त ?

मत कहो कि है निपट पराजय-वादी मम विश्वास;
मत कहो कि नैराश्य-वाद मय हैं मेरे निःश्वास;
तुम आलोचकगण, क्या जानो विजय-पराजय-वाद ?
मैं यथार्थवादी कर्मठ ! हूँ फिर भी आज उदास !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ अप्रैल, १९४४

■

तुम हो ?

तुम हो ? सब कहते हैं : तुम हो,
निःसंशय तुम हो, तुम हो।
सुनता हूँ तुम मायापति हो,
प्रकृति भाल के कुंकुम हो।
क्या हो ? कैसे हो ? कितने हो,
रमे कहाँ ? कुछ तो बोलो ?
मन-फाँसी संशय-गाँसी की
ये ग्रन्थियाँ तनिक खोलो।
अपलक अलख झलक-रेखा की अति
बाँकी झाँकी तुम हो।
प्रकृति - बधूटी के सुहाग के
सुनता हूँ, तुम कुंकुम हो।

यम-नियमों के संचालक हो;
उनके प्रतिपालक तुम हो,
सुनता आता हूँ निशाचरी
माया के घालक तुम हो,

कर्म - अकर्म - विकर्म - विधाता,
फलदाता हो बड़े खरे
सब के हो, सब में हो, फिर भी
रहते सब से सदा परे,
सब कहते हैं जगत् - सूत्र के
चालक मायावी तुम हो,
सुनता हूँ तुम प्रकृति-बधू के
चिर सुहाग के कुंकुम हो।

अहंकार, मन, बुद्धि, चित्त से
सत, रज, तम से, रहो परे,–
अनल, वायु, जल, भूमि, गगन के
स्वामी त्रिगुणातीत अरे,–
जटिल अष्टधा प्रकृति-नियति से
भिन्न तुम्हें सब कहते हैं;
यों तद्गत मन से ये कविगण
तुमको भजते रहते हैं;
तुम्हीं बता दो तो तुम क्या हो ?
सब जन कहते हैं तुम हो।
सुनता हूँ तुम मायापति हो
प्रकृति-भाल के कुंकुम हो।

बुद्धि-गम्य तुम नहीं, तुम्हें फिर
कैसे कोई जान सके ?
कैसे भौतिकता मय पुतला
यह तुमको पहचान सके ?

लिपटा है अस्तित्व तुम्हारा
शंकाओं के अंचल में,
छटा तुम्हारी कहाँ दिखाई
देती नियति - दृगंचल में ?
फिर भी सब गुरुजन कहते हैं
तुम हो, तुम हो, हाँ, तुम हो !
सुनता हूँ तुम प्रकृति - बधू के
चिर सुहाग के कुंकुम हो।

कैसे जानूँ ! क्यों कर जानूँ ?
क्या जानूँ ? तुम हो कि नहीं ?
कुछ प्रतीति होती हिय में यदि
तुम दिख जाते कहीं कहीं !
तर्क, वितर्क, वितण्डाओं में
तुम सहसा कब मिलते हो ?
शत-शत युग की अचल शिला हो
तुम सहसा कब हिलते हो ?
कहते हैं, अविचल भूधर - से
अटल जगद्धर बल तुम हो
सुनता हूँ, तुम प्रकृति - नटी के
चिर सुहाग के कुंकुम हो।

तुम हो, या कि नहीं ? यह निश्चय
करना एक बखेड़ा है;
यह है भूल - भुलैया, इसका
मारग टेढ़ा - मेढ़ा है;

क्या जानूँ तुम क्या हो ? तुम तो
भानमती के थैला हो !
कैसे कोई तुमको बूझे ?
तुम तो एक पहेला हो।
क्या जानूँ तुम हो कि नहीं हो,
कहते हैं तुम हो, तुम हो
यह भी एक कहावत है; तुम
प्रकृति - भाल के कुंकुम हो।

रंग-बिरंगे चित्र तुम्हारे,
बेढंगी नामावलियाँ !
तुम प्रकाश के पुंज, तुम्हारी
अँधियाली श्यामा गलियाँ !
बड़े सच्चिदानन्द बने हो,
जग में निरानन्द छाया,
यहाँ अचिन्तन व्याप्त हो रहा,
फैली है मिथ्या माया;
फिर भी सब तोते-से रटते
जाते हैं : तुम हो, तुम हो
सुनता हूँ तुम प्रकृति-बधू के
चिर सुहाग के कुंकुम हो !

कहते हैं कि तुम्हारे तप का
है परिणाम विश्व सारा,
कहते हैं, बह रही तुम्हारे
रयि - प्राणों की यह धारा;

अहो तपोधन ! अपने तप का
देखो तो परिणाम ज़रा,
देखो तो क्या-क्या रंग लायी
विद्या अपरा और परा :
इस पंकिल थल की किलकिल में,
कहते हैं, तुम हो—तुम हो,
सुनता हूँ तुम प्रकृति - बधू के
चिर सुहाग के कुंकुम हो।

अहो सच्चिदानन्द ! क्षोभ यह
क्यों छाया है इस जग में ?
अहो सत्यसंकल्प ! असत् यह
फैल रहा क्यों जग-मग में ?
रग-रग में क्यों असत्, अचिन्तन,
निरानन्द की है पीड़ा ?
दिखा रही क्यों पाप-वासना,
अपनी कटुता की क्रीड़ा ?
है यह जटिल दुरूह असंगति;
इसकी जड़ में क्या तुम हो ?
क्या तुम ही ठगिनी माया के
चिर सुहाग के कुंकुम हो ?

पतन-भाव क्यों प्रकृति - नटी की
नासा का आभरण हुआ ?
बोलो तो काम - वासना का
क्यों सहसा जागरण हुआ ?

सुभग तुम्हारे विश्व - दीप में
कैसे जगी पाप – बातो ?
बोलो, हिय - युद्धस्थल में क्यों
खड़ी सदिच्छा अकुलाती ?
यह अनाथिनी पुण्य - भावना
क्या इसके स्वामी तुम हो ?
क्या इस सतत विरहिणी के तुम
चिर सुहाग के कुंकुम हो !

पाप - पुण्य का समर – तुम्हारा
नख़रा एक निराला है !
क्या ही अदा – कहीं अँधियाला
और कहीं उजियाला है !
क्या सदसत् का चिर संघर्षण
रुचिर तुम्हारी लीला है ?
अहो तुम्हारी यह लीला तो
कुटिला है, दु:शीला है !
सकल विरोधाभासों में भी
क्या केवल तुम ही तुम हो ?
क्या सचमुच तुम प्रकृति - बधू के
चिर सुहाग के कुंकुम हो ?

कैसे कहूँ कि तुम हो ? – हिय में
होती नैक प्रतीति नहीं !
नीति - निपुण के तपोराज में
होती सदा अनीति कहीं ?

रीति नयी मैं देख रहा हूँ
पूत तपोद्भव तव जग में!
देखो मँडराता रहता है
मलिन भाव अभिनव जग में,
इस पर भी किसका साहस है
जो यह कह दे! हाँ तुम हो?
कौन कहेगा कि तुम प्रकृति के
चिर सुहाग के कुंकुम हो?

पाप - पुण्य के ये अवगुण - गुण
बन्धन किसकी कृतियाँ हैं?
दुखित हृदय की शान्ति निकन्दन
कैसी ये संस्मृतियाँ हैं?
किसने अकलंकित - सकलंकित
मर्यादा - रेखा खींची?
यह बिष बेल, कहो, किसने, हिय
आँगन में बोयी - सींची?
पाप-भाव की आदि प्रेरणा
के प्रेरक भी क्या तुम हो?
फिर भी क्या तुम प्रकृति - बधू के
चिर सुहाग के कुंकुम हो?

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह इन
रिपुओं का संघात बली —
कहते हैं, निशि दिन हिय में यह
करता है आघात छली!

किन्तु कहो इन षड् रिपुओं का
उत्पादक है कौन हठो ?
कौन मनाता रहता है इन
षड़यन्त्रों की जन्म-छठी ?
इन सन्तानों के भी प्रजनक
अहो जगत्पति, क्या तुम हो ?
सच कहना क्या इसी तरह तुम
प्रकृति - बधू के कुंकुम हो ?

गुरुजन कहते हैं कि रज - तम से
प्रकटे हैं ये षड् बैरी,
री माया, यह विकट बखेड़ा
क्या सब तेरा ही है री ?
त्रिगुणात्मिका प्रकृति का सृष्टा
क्या कोई है या कि नहीं ?
क्या यह भी है एक स्वयं-भू
जिसका अन्त न आदि कहीं ?
एक स्वयं-भू बनी प्रकृति यह
दूजे स्वयंभूत तुम हो,
फिर कैसे कह दूँ कि तुम्हीं तो
प्रकृति-भाल के कुंकुम हो ?

सकल वस्तुओं के अणु-अणु में
संकर्षण होता रहता,
प्रकृति-पुरुष में यहाँ सदा यह
संघर्षण होता रहता;

इस ब्रह्माण्ड अनन्तवन्त में,
सकल लोक - लोकान्तर में, –
क्या द्विछत्र शासन फैला है
अखिल विश्व में ? अम्बर में ?
यदि दोनों का राज यहाँ है,
तब, कैसे तुम ही तुम हो ?
प्रकृति नटी के चिर सुहाग के
फिर कैसे तुम कुंकुम हो ?

सतत विरोधाभासों का यह
भाव जगत् में फैल रहा,
शून्य हृदय में जग भर लाया
विफल ज्ञान का मैल महा,
तैल रहा ही नहीं दीप में,
हे प्रकाश के पुंज सुनो !
क्रीड़ा कहाँ करोगे, है यह
अँधियारी सब कुंज, सुनो;
रंच विरुद्ध भावना को तुम
समझा दो कैसे तुम हो ?
अहो, वुद्धि-वैधव्य मिटा दो
तुम सुहाग के कुंकुम हो !

हे सम्पूर्ण ! तुम्हारे जग में
अपूर्णोत्क्रमण प्रकट हुआ
पूर्ण-भार वहनार्थ गढ़ा है
तुमने टूटा शकट मुआ;

टूटी गाड़ी ढचर-ढचर-खड़
भड़-गड़-बड़-भड़-भड़ करती;
दचके लगते, ऊबड़-खाबड़
है जग-मग को यह धरती
इस अपूर्ण निःसाधनता में
छटा दिखाते क्या तुम हो ?
असम्पूर्ण उत्क्रान्ति वधू के
क्या तुम रंजित कुंकुम हो ?

नहीं, नहीं यह है विडम्बना,
बस केवल तुम ही तुम हो;
पापों के दुर्बल छल-बल तुम,
पुण्यों के बल भी तुम हो;
विषय-वासना, पुण्य कामना;
इनमें भी तुम ही तुम हो;
अजब अटपटे रूप धरे हो;
बहु मुख, बहुरंगी तुम हो;
तुम यह भी हो, तुम वह भी हो,
इधर-उधर तुम ही तुम हो
प्रकृति तुम्हारी है, तुम उसके
चिर सुहाग के कुंकुम हो !

असम्पूर्णता पदस्खलनता
सभी तुम्हारी रूप बनी
यह ठगिनी छलना आयी है
हिय छलने को बनी-ठनी,

यह अधर्म, यह काम-राग,
यह विधि-निषेध, है तव लीला।
अहो सत्य-शिव-सुन्दर! तव गति
विचर रही चिन्तन शीला;
रजत बालुका के कण-कण में
सभी ओर, तुम ही तुम हो
प्रकृति बधूटी के मस्तक के
चिर सुहाग के कुंकुम हो!

जीव-जगत् की यह अनन्तता—
क्रीड़ा एक तुम्हारी है
जल - थल - वायु - गगनचारो सब
तव आतप - चिनगारी है।
अहो हुताशन-पुंज! तुम्हारा
इक स्फुलिंग ब्रह्माण्ड बना
तुम्हीं मृत्तिका, कुम्भकार तुम,
विश्व तुम्हारा भाण्ड बना;
अलग-थलग नग, अपलक टक तुम
अलख झलक-झाँकी तुम हो,
समझा हूँ, तुम प्रकृति-बधू के
चिर सुहाग के कुंकुम हो!

किन्तु हृदय विश्वास शून्य है—
क्या ही अजब तमाशा है;
अन्तस्तल में उलझ रही यह
आशा और निराशा है!

संशय-निश्चय जूझ रहे हैं,
अविश्वास - विश्वास लड़े !
त्वमसि-नासि त्वम्, अस्ति, नास्ति के
मचे यहाँ हिय में झगड़े !
यह संशय प्रवृत्ति हिय-मन्थन
क्यों करती है यदि तुम हो ?
तुम कैसे ठगिनी माया के
चिर सुहाग के कुंकुम हो ?

बड़ी दुरूह समस्या है यह,
इसको कैसे सुलझाऊँ ?
निज मन-मीन, 'अस्ति' - रस-बंसी
में मैं कैसे उलझाऊँ ?
यह श्यामल संसार-अतल-जल–
उदधि - वीचि - विक्षुब्ध यहाँ
प्रबल तरंग-वासना में मन–
शफरी उलझी लुब्ध यहाँ !
यह ऐसा क्यों, यदि अनादि मन–
मीन-पीन बेधक तुम हो !
बतलाओ तुम प्रकृति-बधू के
कैसे रंजित कुंकुम हो ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
१८ फ़रवरी, १९३१

■

सुन्दर

ओ सौन्दर्य-उपासक, तुमने
सुन्दर का स्वरूप क्या जाना ?
मधुर, मंजु, सुकुमार, मृदुल ही
को क्या तुमने सुन्दर माना ?

क्यों देते हो चिर सुन्दर को
इतने छोटे सीमा - बन्धन ?
कठिन, कराल, ज्वलन्त, प्रखर भी
है सौन्दर्य - प्रकेत चिरन्तन !

कल-कल, टल-मल, सर-सर, मर्मर,
यही नहीं सुन्दर की वाणी,
इन्द्र-वज्र-ध्वनि भी है उसकी
गह्वर गभीर गिरा कल्याणी !

क्या सुन्दर बोला है तुमसे
अब तक केवल विहँस-विहँस कर ?
क्या तुमने देखा है उसका
केवल मंजुल रूप हृदय - हर ?

क्या तुमने न लखा है अब तक
सुन्दर का विकराल स्वयंवर ?
क्या न निरख पाये हो अब तक
उसका उग्र रूप प्रलयंकर ?

लो, तब तो है अभी तुम्हारी
सुन्दर की साधना अधूरी !
नहीं कर सके हो तुम अब तक
सुन्दर की उपासना पूरी !

अरे, सुमन ही क्या ? सुन्दर के
तो हैं ये पाहन भी पाहुन !
गर्जन भी है वहाँ ! नहीं है
केवल मधुपों की ही गुन-गुन !

मत समझो मलयानिल ही है
उसका शीतोच्छ्वास भला - सा;
अनलानिल भी नित्य उच्छ्वसित
करती ही है उसकी नासा,

फूलों पर ही नहीं, कण्टकों
पर भी है सुन्दर का नर्तन;
सुखद, दुखद, यह तो है केवल
उसका क्षणिक रूप परिवर्त्तन !

है जीवन के एक हाथ में
मधुर जीवनामृत का प्याला,
और, दूसरे कर में उसके
है कटु मरण - हलाहल - हाला !

एक आँख से निकल रही है
सर्व दहन की वह्नि अपारा,
और दूसरी से बहती है
नित्य करुण जल - मुक्ता - धारा !

चिर सुन्दर के किस स्वरूप का,
कहो, करोगे तुम अभिनन्दन ?
सदा रहेगा क्या सीमित ही
तव पूजन, अर्चन, अभिनन्दन ?

ललित, चारु, लघु, कोमल, तनु पर
हिय न्यौछावर करने वालो,
मधुर, मधुर, सुकुमार गीत के
तुम मनहर स्वर भरने वालो,

नहीं हुई है पूर्ण तुम्हारी
सुन्दर की अर्चना अलौकिक;
चिर सुन्दर का स्तवन तुम्हारा
रहा अभी तक केवल मौखिक;

जब तक उसकी वह कराल छबि
कर न सकोगे मन से स्वीकृत;
तब तक नहीं हो सकोगे तुम
सुन्दर के द्वारा अंगीकृत।

ओज, तेज, विक्रम, बल, दृढ़ता,
महानाश - क्षमता - निर्ममता,-
अडिग धीरता, कुलिश कठिनता,
भीम शक्तिमत्ता, चित् - समता,-

नित अपराजित सहन - शीलता,
नित्य अकम्पित नवल सृजन - रति
नित बाधा - भूधर उत्पाटन,
नित्य क्रान्ति-कृति, नित अबाध गति,

ऐसा है सौन्दर्य समुच्चय,
ऐसा है वह सुन्दर प्रियवर,
ऐसा है वह जीवन - रंजन,
ऐसी है उसकी छवि हिय - हर !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१८ जून, १९४४

सूना सब संसार हुआ है

यों अनुभव होता है मानो सूना सब संसार हुआ है,
ऐसा लगता है मानो यह जीवन दूभर भार हुआ है !

देख रहा हूँ मैं उन्मन-सा, आज रात, निश्चल ध्रुवतारा,
और गगन - मण्डल में मैंने यह सप्तर्षि - समूह निहारा;
देखी उधर कृत्तिका, देखा बिद्ध मृगशिरा का नज़्ज़ारा;
देख भ्रमित नभ पूछू हूँ मैं : क्यों यह सब व्यापार हुआ है ?
यों अनुभव होता है मानो सूना सब संसार हुआ है;

गगन विलोका, इकटक अपलक, झुक-झुक यह धरती भी देखी,
भूधर देखे, नदियाँ देखीं, ताल - तलैयाँ भी अनुलेखी;
जीवन देखा विकसित होते; और मरण - लीला भी पेखी;
पर, कुछ समझा नहीं, कदाचित्, मुझको बुद्धि-विकार हुआ है !

मानव को अवलोका जग में, उगते, बढ़ते-झरते दिन-दिन;
यों जीवन की क्रीड़ा देखी, और मरण भी देखा छिन-छिन;
कालबली का कलन निहारा, जाते देखे पल, छिन, गिन-गिन,
यह सब देख, हृदय में अगणित प्रश्नों का संचार हुआ है;
यों अनुभव होता है मानो सूना सब संसार हुआ है।

मानव क्यों आया पृथिवी पर ? याँ से कहाँ चला जाता है ?
किस-किस का इससे नाता है ? इसका किस-किस से नाता है ?
जाने वाला गया ? या कि जो जाता है वह फिर आता है ?
इस उधेड़-बुन में ही पड़कर मन सम्भ्रम-आगार हुआ है;
यों अनुभव होता है मानो सूना सब संसार हुआ है।

यदि सब क्षण-भंगुर ही है तो अमर-भावना है क्यों प्रिय में ?
अगर अचिरता है, तो उठती अमृत-तान क्यों मन-इन्द्रिय में ?
मानव क्यों अनन्तता का ही आरोपण करता निज प्रिय में ?
इसी प्रश्न-मन्थन से मम मन विचलित बारम्बार हुआ है;
यों अनुभव होता है मानो सूना सब संसार हुआ है ?

■

राजेश्वर मानव

''छोड़ो मार्ग, हटो सम्मुख से,
भय - श्रद्धा से काँपो थर-थर,
देखो, यहाँ पधार रहे हैं
निखिल सृष्टि के ये राजेश्वर,
नत मस्तक हो इनके आगे
कहो कि हम सब सेवक-गण हैं !
लख अवतार आपका हे प्रभु,
धन्य विश्व के रज कण-कण हैं'' !!

सम्बोधित कर सब अग जग को
महाकाश वाणी यों आयी,
और प्रकृति ने अति अचरज से
इधर-उधर आँखें दौड़ायीं।

यह कैसा आदेश अलख का ?
उनकी यह क्या अम्बर-वाणी ?
आये यहाँ कौन राजेश्वर ?
यों कह रही प्रकृति कल्याणी ।

अनिल, अनल, आकाश, विश्व सब,
सब ब्राह्माण्ड हिये अचरज भर,
पूछ रहे हैं आतुर होकर;
आये यहाँ कौन राजेश्वर ?

इतने में लख पड़ा कहीं पर
डग-मग गति दो पग का प्राणी,
कुछ उन्नत शिर, फिर अवनत शिर
झटपट, अस्फुट जिसकी वाणी ।

प्रकृति हँसी ब्रह्माण्ड हँस पड़े,
हँसे सभी दिक् - पाल भयंकर,
धरा हँसी, अम्बर भी विहँसा,
विहँसे देश - काल प्रलयंकर !

एक साथ सब पूछ उठे यों :
अरे यही है क्या राजेश्वर !
यह दुर्बल तन, निपट निबल मन,
यह मानव, यह जन्तु निम्नतर ?

और जगत् की जड़ सत्ता ने
उस मानव का किया निरादर,
अलख - गगन - वाणी बिसराकर,
लगा घूमने सकल चराचर ।

सूर्य, चन्द्र, तारागण, सब ने
मिलकर उसकी हँसी उड़ायी;
पर, मानव ने झटका देकर
जड़ता से निज बाँह छुड़ायी;

अचरज भरे, टिमटिमाते - से
उसने खोले अपने लोचन,
जल, थल, अनिल, अनल अम्बर का
उसने किया सभय अवलोकन;

अम्बर चुम्बी भूधर देखे,
देखे उसने बीहड़ जंगल;
त्रास भर गया उर अन्तर में
मन में जागा भाव अमंगल;

उसने चारों ओर निहारी
दुर्दमनीया कठिन विषमता,
उसने देखी निज अक्षमता;
लखी प्रकृति की निर्मम क्षमता,

उसने गहरी एक साँस ली;
द्विपद हुआ कुछ भौंचक्का-सा;
लखकर अपने को एकाकी,
उसे लगा गहरा धक्का-सा !

पर अस्फुट, अस्पष्ट, अलख-सी
हिय में एक प्रेरणा जागी;
निस्सहाय मानव की हिय-रति
निज सम, बोधन कृति में पागी।

मानव जीवित है अब तक भी
यह क्या महदाश्चर्य नहीं है ?
बली, भूधराकार भयंकर, पूर्व जन्तु
क्या आज कहीं है ?

उनके अस्थि-पंजरों के कुछ
अश्मीभूत चिह्न मिलते हैं;
लख विकराला कृतियाँ जिनकी,
दर्शक-गण के दिल हिलते हैं।

हुए लुप्त ऐसे भी जिनकी
श्वासों में खिंचते थे हाथी;
पर, बच रहा द्विपद, जिसका था
तब कोई न सँगाती - साथी।

मिले सहस्र-पाद जल-थल-चर,
मिटे मेरुतनधारी तमचर;
बड़े-बड़े पंखों वाले वे
मिटे भयंकर सभी गगन-चर।

किन्तु बचा लाया अपने को,
किसी तरह अति दुर्बल यह नर;
यह नर, जिसे मारने मानो
तुले हुए थे सकल चराचर !

अब तक निगल न पायी इसको
सर्वनाश की गहरी खनिका;
इसके आगे नाच थकी है
क्रोध - भरी संसृति की गणिका।

मानव ने जब निज दृग खोले
तब उनसे किसने झाँका था ?
बैठ नयन-वातायन में तब
किसने इस जग को आँका था ?

वह भय था ? या वह अचरज था ?
अथवा क्या वह उत्सुकता थी ?
वह थी ज्ञान-पिपासा क्या कुछ ?
या वह बेसुध भावुकता थी ?

कुछ कहते हैं वह अचरज था ?
कुछ कहते हैं वह तो भय था !
हम कहते हैं वह विकार-पति
कोई तत्त्व चेतना - मय था !

ऐसा तत्त्व, झलकती रहती
जिसमें महिमा चिर चेतन की;
ऐसा तत्त्व कि जिसके वश हैं
सकल क्रियाएँ संवेदन की;

वह, जो प्रकृति छटा-उद्दीपन
अपने में अंकित करता है,
ऐसा तत्त्व कि शीत-उष्ण से
जो निज को शंकित करता है;

जिसमें बाह्य प्रभावों को नित
धारण करने की क्षमता है,
वही तत्त्व झाँका था दृग से
जिसकी कहीं नहीं समता है।

प्रकृति विलोकी थी यदि नर ने
नयनों में केवल भय भरकर,
तो फिर उसके मन में कैसे
जागा अन्वेषण संशय - हर ?

भय वश मानव कहो कभी क्या
हो उठता है यों लीलोत्सुक ?
भीति ग्रस्त तो सदा रहेगा
गहन कन्दराओं में छिप-लुक !

और न केवल अचरज ही से
खुलती है उलझन सिरजन की ?
मानव-यात्रा में लगती हैं
पूर्ण शक्तियाँ मानव-मन की

टुकड़े-टुकड़े करके कोई
क्यों मानव को सदा निहारे ?
उसको क्यों यों काटे कोई –
बिन समझे औ' बिना बिचारे ?

मानव गठरी नहीं राग की,
नहीं विकारों का अनुगामी;
काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, मद,
अचरज, वह इन सब का स्वामी !

दिखने में जो इनका पुतला,
पर, वास्तव में जो निष्कामी,–
आया ले दीपक चेतन का,
वह अभिमानी, निपट अनामी !

उसने अपने इस दीपक से
सब नक्षत्र किये आलोकित;
उसने नदियाँ की कल्लोलित
उसने अर्णव किये विडोलित;

झंकृत किये सृजन वीणा के
तार-तार उसने निज कर से;
वह, कल-गानवती स्वर-गंगा,
लाया खींच नील अम्बर से;

उसने अवलोका इस जग को
अपने उच्च चेतना-स्तरसे;
गूँथ बना लाया नियमों की
माला वह निज अन्तरतर से,

पर, उसका प्रवास-पथ कितना
बीहड़ था, कितना बीहड़ है!
एक ओर लघु चेतन-दीपक,
इधर तिमिर का वैभव जड़ है;

जब एकाकी आदि मनुज ने
अपने चारों ओर निहारा;
तो दिखलाई दिया सभी दिशि
उसको निपट विकट अँधियारा;

एक ओर थे ऊँचे भूधर,
एक ओर थे गहरे सागर,
कहीं पड़े थे भारी अजगर,
कहीं दहाड़ रहे थे नाहर।

कहीं बरफ़ था, कहीं धूप थी,
कहीं भयानक आँधी पानी,
अनजाना-सा सारा जग था,
निखिल प्रकृति यह थी अनजानी;

ऐसे जग में कहो क्या करे
निपट निबल मानव एकाकी ?
जन बिन, शस्त्र हीन, निःसाधन,
कैसे विजय करे वसुधा की ?

मानव झिझक हटा कुछ पीछे,
मानव - हिय भय भरा भयंकर !
लेकिन उससे कहा किसी ने :
कि रे मनुज, तू है शिवशंकर !!

पीछे हटा, बढ़ा फिर आगे,
पाँव लड़खड़ाये रह - रहकर;
हिय धड़का, मिंच गये नयन भी,
निकला खेद – स्वेद बह - बहकर;

किन्तु न रुकी चरण गति उसकी,
मानव सतत गया बढ़ता ही;
होने लगा ऊर्ध्व - पथ निर्मित,
मानव सतत गया चढ़ता ही;

प्रकृति मानिनी के घूँघट को
लगा खोलने धीरे - धीरे,
गहन अगम्या को यह मानव,
लाया ज्ञान सरोवर तीरे !

उसने लाँघे धीरे - धीरे
प्रस्तर – लौह – ताम्र मन्वन्तर,
हुई विस्तृता ज्ञान - मेखला,
विकसित हुआ बाह्य - अभ्यन्तर;

बना चुका है निखिल प्रकृति को
अपनी दासी, यह राजेश्वर,
किन्तु अभी तक कर न सका है
अपने वश अपना अन्तरतर!

पर, निश्चय ही यह मानव है :
राजेश्वर, अमिताभ, क्लेशहर !
जिस दिन निज को पा जायेगा,
उस दिन होगा यह सर्वेश्वर !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१४ सितम्बर, १९४३

■

भूल-भुलैया

इस भूल-भुलैया से कैसे
निकले मानव का भूला मन ?
हो रहा आज तो निष्फल-सा
उसका सब चिन्तन और मनन !
मानव की हर-हर पगडण्डी
बन गयी घूम-फिर कर चक्कर,
घानी का बैल बन गया है
फिर भी, वह कब बैठा थककर ?

ग़न्नाटे में है फँसा हुआ,
वह झुँझलाता-अकुलाता है ?
चक्कर में है वह बेचारा,
फिर भी चलता ही जाता है !

जिनने कि निकट से देखा, वे
बोले : जन ऊर्ध्वगमन-मय है,
यह शिल्प और विज्ञान अमित
उसकी उन्नति का परिचय है;
कुछ कहते हैं कि मनुज तो है
क्षुत्क्षाम अधोगामी प्राणी,
शुभ ऊर्ध्व गमन की बात, कहो,
इन मानव ने कब पहचानी
पर, हमको तो यों लगता है
जैसे कि मनुज है चक्कर में,
ऊपर, नीचे, नीचे, ऊपर,
वह फँसा इसी आडम्बर में !

उस उन्नत (?) मानव को देखो,
निरखो तो इस विज्ञानी को,
इस पण्डित को, इस ध्यानी को,
अवलोको इस अभिमानी को !
इसकी आँखों में देखोगे
तुम अति विकराल गुहा मानव ।
इसकी त्यौरी में देखोगे
तुम विकट रक्तपायी दानव !

यदि मनुज आज वैसा ही है,
तो ऊर्ध्व-गमन है कहाँ, कहो ?
वह गुहा मनुज ही तो है जो
प्रासादों में है यहाँ, अहो ?

जग ने सोचा कि गुहा छोड़े
हो गये सहस्रों मन्वन्तर,
मानव इतना बढ़ आया है
बदला होगा कुछ अभ्यन्तर !
पर, बर्वरता औ' संस्कृति में;
जैसे, है बँधी एक डोरी;
मानो, रँग नहीं सका गहरी,
मानव अपनी चादर कोरी !
मानो, वह गुहा द्वार से चल,
फिर जा पहुँचा है आज वहीं,
जैसे, उन्नति का ऊर्ध्व पन्थ
वह ढूँढ़ सका है अभी नहीं !

मानवता ने सुलगायी है
निज बुद्धि-ज्वाल दुर्दान्त, चण्ड,
प्रज्वलित हो उठी है होली
हर-हर-हर-हर करती अखण्ड !
की बुद्धि मनुज ने अति विकसित,
पर, रहा हृदय रागानुरक्त,
फल भोगे, अब, जब किया आज
मानव ने जीवन यों विभक्त,

संस्कृत न हो सका हृदय-भाव;
कर लिया अमित बौद्धिक विकास,
तो आओ मेरे जबड़े में–
यों गरज उठा है सर्वनाश !

आ पहुँचा है जिस ठौर मनुज,
उस ठौर आज है सर्वनाश,
यदि, वह अपने हिय को मथ कर
कर ले न आज अपना विकास !
ये अंगारे, ये सब लपटें,
यह बुद्धि-प्रज्वलित वैश्वानर,
यह अति प्रचण्ड मस्तिष्क ज्वाल,
जो धधक रही है हहर-हहर
ये सब कर देंगी भस्मसात्
जीवित जन की ठठरियाँ आज
चेतो, अन्यथा रहेंगी बस
राखों की कुछ गठरियाँ आज !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
३० जनवरी, १९४४

■

कस्त्वं ? कोऽहं ?

मानव, तेरा आरम्भ कहाँ ?
मानव, तेरी उद्‌भूति कहाँ ?
तेरे जीवन का स्रोत कहाँ ?
तेरी वह आदि प्रसूति कहाँ ?

तू कब जागा ? तू कब उट्ठा ?
जड़ से तू कब चैतन्य हुआ ?
जग के इन जंगम जीवों में
कब से तू, बोल, अनन्य हुआ ?

तेरी कैसी परिभाषा है ?
ओ द्विपद जीव, तू कौन अरे ?
कितने दिन से तू विचर रहा
है कैसे - कैसे रूप धरे ?

मैं मानव हूँ, मनु वंशज हूँ,
मैं क्या अपना इतिहास कहूँ ?
मैं अपने ही मुख से कैसे
निज उद्भव और विकास कहूँ ?

इतिहास बना मम भ्रू-विलास,
मन्वन्तर मेरे दास बने;
घटनाओं के क्रम तो मेरे
प्रतिबिम्बों के आभास बने।

मैं इतनी बड़ी कहानी हूँ
जिसका अथ है अज्ञात, सखे;
मैं आदि-अन्त से परे, यहाँ
अथ-इति की कौन बिसात, सखे ?

मेरी इक - इक धड़कन में हैं
संचित युग-युग की संस्कृतियाँ;
उच्छ्वास और निःश्वासों में
मण्डित अनादि की संस्मृतियाँ;

मेरी इन रोमावलियों में
सिहरन का एक रहस्य भरा;
मेरी तन्द्रा की घड़ियों में
नैष्कर्म्य-तत्त्व-आलस्य भरा;

हे जग, मैं एक पहेली हूँ!
क्या दूँ तुमको परिचय अपना ?
मैं द्रष्टा हूँ, मैं भोगी हूँ;
जड़-जंगम है मेरा सपना !

आरम्भ ? अरे मेरे अथ का
इतिहास रहा अज्ञेय सदा,
मम प्रथम प्रात के भैरव-स्वर
हैं रहे अगम्य, अगेय सदा;

कोई न गा सका आदि-गीत,
कोई न भर सका गत स्वर वे;
कोई न रख सका याद, कि थे
कैसे नव-गायन निर्झर वे;

मैं आज जगाने बैठा हूँ
वह आदि प्रभाती स्वर-लहरी;
विस्तृत अतीत के सागर में
कल्पना पैठती है गहरी।

इस विस्तृत-से वक्षस्थल में
जिसको कहते आकाश महा, –
इस नीले-से गगनांगन में, –
था कभी नाचता नाश महा;

अंगारों का था खेल यहाँ,
शोलों की याँ इक बस्ती थी,
था धुआँधार का राज यहाँ,
लपटों ही की याँ हस्ती थी;

जिसको जड़-जंगम कहते हैं
उसका न पता था कहीं यहाँ,
जलचर, थलचर की कौन कहे ?
जल-थल भी तो थे नहीं यहाँ।

उन सर्वभक्षिणी लपटों में
लिपटा था आविर्भाव स्वयं,
उस महानाश के नर्तन में
था विश्व-सृजन का चाव स्वयं;

प्रलयंकारी आग्नेय रास
था आदि रूप निर्माणों का
उस सर्व - दहन की लाली में
था तत्त्व निहित चिर-प्राणों का

पावक की दाहक होली की
गोदी में सृजन विहँसता था
संहारकारिणी लीला में
चिर-सुन्दर उद्भव बसता था।

यह विश्व और यह रवि-मण्डल
था वैश्वानर का क्रोधानल,
इन लोक और लोकान्तर में
खद-बद करता था कोलाहल ;

आकारहीन था सौर-जगत्,
आकारहीन थी वसुन्धरा,
तारल्य और नीहारमयी
थी आदि सृष्टि की परम्परा ।

उन तरल और आकार-रहित
द्रव्यों में गति थी चक्रमयी,
क्या किसी कुम्भकर्ता ने ही
दी थी जग को यह प्रगति नयी ?

ये प्रलय और उद्भव दोनों
थे बद्ध एक आलिंगन में,
थी बँधी सृजन की प्रगति धीर
उस महानाश के रिंगण में ;

आगे - आगे था महानाश,
पीछे - पीछे था भव-उद्भव ;
अथवा विनाश, उद्भव, दोनों
थे एकरूप मिश्रित, तद्भव ;

है अरे, कौन अज्ञानी वह
जो नाश, सृजन, को अलग कहे ?
तत्त्वार्थ-दीपिका बुद्धि व्यर्थ
विश्लेषण का क्यों भार सहे ?

था काल-ज्ञान से बहुत दूर
उस सर्वनाश का रास - रंग,
उस समय काल-अनुभव-कर्ता
मानव था अवगुण्ठित, अनंग ;

भावी, अतीत औ' वर्तमान
थे एक रूप औ' एक प्राण,
काल - त्रय के गुण-बन्धन से
था विनिर्मुक्त वह कालमान ;

वह महाकाल था आदि-रूप,
या था निर्मम सतश्री अकाल,
थे विश्व-सृजन में पूर्ण लीन
जिसकी ग्रीवा के तन्तुजाल

धू-धू करती उन लपटों से,
अंगारों से, ज्वालाओं से,–
धूमायित उन कुण्डलियों से,
प्रज्वलित अग्नि-मालाओं से,–

अपने को पूर्णावृत करके
बैठा था क्या कोई साजन ?–
जिसका कन्दुक था अग्निपुंज,
था महाशून्य जिसका आसन ?

क्या कोई लीलामय भी है
लोकान्तर जिसकी कृतियाँ हैं ?
तारांओं के ये चलन - कलन
किसकी लीला की सृतियाँ हैं ?

किसके अंगुलि - परिचालन में
रमते हैं उद्भव, नाश सदा ?
किसकी भ्रूभंगी का नाटक
है प्रलय, सृष्टि की यह विपदा ?

कोई इसका कर्त्ता भी है ?
या स्वयम्भूत है जगड्वाल ?
इसका निर्णय करते - करते
थक गयी तर्क की तीव्र चाल ;

कल्पना शिथिल, है बुद्धि थकित,
मति गति चकिता, विश्वास मूक,
कर्ता, कारण का तत्त्व कहो,
कोई कैसे जाने अचूक ?

इस जग की नाटक-शाला के
उस सूत्रधार का किसे पता ?
वह है भी, या कि नहीं भी है,
यह भी कोई कब सका बता ?

पर, मैं मानव कैसे आया ?
कब निकला मैं अंगारों से ?
कैसे मैं हुआ विभूषित इन
उपकरणों के शृंगारों से ?

इन दस इन्द्रिय के बन्धन से
मैं बँधा अहो किस क्षण, बोलो ?
कब हुए चलित, जीवित, गतियुत
मम अंगों के रजकण, बोलो ?

प्रज्वलित पुंज यह पिण्ड, जिसे
भूमण्डल का अभिधान मिला,–
जिसकी छाती पर आज सभी
जड़-जंगम को सुस्थान मिला,–

धीरे-धीरे रख चला ज्वलित
अंगारों को अन्तस्तल में;
आकार-रहित तारल्य हुआ
अति घनीभूत उस हलचल में

लपटों के बुझते - बुझते ही
छा गया वायु आवरण यहाँ,
पृथिवी हो गयी उदधि-वसना,
लहरें उठीं मन हरण यहाँ।

जल की कल-कल ध्वनि में मानो
नवजीवन की रसधार बही,
उद्भिज का स्फोट-विकास हुआ,
जीवन-प्रेरणा पुकार रही;

तृण ने, विटपों ने उद्ग्रीवी
होकर जीवन - सन्देश दिया,
उरगों ने गतिमय होकर के
अपने सिर गति का क्लेश लिया;

फिर गगन - विहारी और कई
पगधारी की बारी आयी,
जलचर, थलचर, नभचर आये,
नर आये औ' नारी आयी।

मैं आ पहुँचा, हाँ आ पहुँचा;
पर मैं कैसे आ गया यहाँ ?
जड़ता के इन जंजालों में
चेतन कैसे छा गया यहाँ ?

पावक-प्रसूत इस भूतल पे, –
जिसमें जड़ता ही जड़ता है,
चंचल चेतन बोलो कैसे
विकसित होकर यों बढ़ता है ?

जड़, चेतन, ये हैं भिन्न या कि
अन्योन्याश्रित इनकी माया ?
क्या जड़, चेतन का भेद-भाव
है केवल सम्भ्रम की छाया ?

वे हैं कुछ, जो यों कहते हैं :
"जड़-चेतन में कुछ भेद नहीं;
क्या तत्त्व-समीक्षक कर पाये
इन दोनों में विच्छेद कहीं ?

जड़ में भी तो अति की गति है,
उसमें भी तो है शक्ति भरी;
कण-कण में विद्युद्वेग भरा
आकर्षण की अनुरक्ति भरी;

है शक्ति निरी उसमें भी तो
जिसको हम चेतन कहते हैं;
फिर भेद कहाँ जड़-चेतन में ?
इस भ्रम में हम क्यों रहते हैं ?

जीवन तो इक मादकता है;
यह अहंभाव है एक नशा;
चेतनता है भौतिक पदार्थ –
मिश्रण की रासायनिक दशा।

जड़-जंगम का यह भेद - भाव
है निपट अतार्किक, दोषपूर्ण,
भ्रम-युक्त द्वैत-दर्शन में कब
मिल सकता है सन्तोष पूर्ण ?

है शाश्वत सत्य पदार्थवाद,
अवशेष सभी भ्रम-ही-भ्रम है,
अप्रत्यक्षों का अन्वेषण
अविशुद्ध कल्पना का श्रम है।''

पर क्या भौतिक प्रत्यक्षवाद
दे सका तुष्टि मानव-मन को ?
इतने ही से मिल गयी शान्ति
क्या आतुर अन्वेषक जन को ?

कल्पना-क्षितिज के परे, दूर, –
इस परदे के भी आर-पार –
उड़ने की यह चटपटी लगी,
कब रुका पंख का सुविस्तार ?

डैने फैलाये चला हंस,
सन-सन ध्वनि अम्बर में छायी;
चिर अपराजिता 'नेति'-गति ने
भौतिक सीमा कब अपनायी ?

चेतनता का अभिव्यंजन है
जड़ता ही के उपकरणों में;
निश्चय ही जीवन लिपटा है
भौतिकता के आवरणों में;

पर केवल भौतिकता में ही
आबद्ध नहीं है जीव-भाव,
भौतिक पदार्थ से भिन्न रूप
बहता है चेतन सुरस-स्राव;

जड़ता विकास-गुण शून्य; किन्तु –
जीवन में वर्द्धन-शक्ति भरी;
जीवन में रस-परिपाक-शक्ति,
आत्मोत्पादन-अनुरक्ति भरी।

जड़ में विकास के भाव कहाँ ?
उत्पादन की क्षमता न वहाँ;
जठराग्निक्षिप्त आहारों की
वह सदृशीकृत पक्वता कहाँ ?

चेतन की ये विशेषताएँ
जड़ता में कब उद्भूत हुई ?
तब क्यों कहते हो जड़ता से
यह चिर-चेतना प्रसूत हुई ?

चेतन आया इस जड़ - जग में
जड़ता को धन्य बनाने को,
अपनी अनंगता त्यागी है
उसने अंगी कहलाने को।

नर आया, –मैं मानव आया, –
कैसे आया ? कुछ याद नहीं;
पर ममागमन की घटना में
है रंचमात्र अपवाद नहीं;

सम्भवतः मैं निर्गुणता की
गुणमय होने की आह, सखे,
सम्भवतः हूँ एकाकी की
अनेक होने की चाह सखे;

निर्वाह हो रहा है मेरा
विक्षुब्ध सिन्धु की लहरों में,
मैं उतराता ही रहता हूँ
अह-निशि के आठों प्रहरों में।

निस्सीम प्रेरणा - लालित मैं;
मेरा विकास सीमान्त नहीं;
अक्षर-प्रणोदना का शिशु मैं,
नश्वरता से आक्रान्त नहीं;

मैं आदि-कल्पना का स्वरूप,
मेरी कल्पना विश्व सारा;
मम ज्ञान-रज्जुसे बँधा हुआ
है यह उजियाला - अँधियारा;

मैं अग्निपुंज का हूँ स्फुलिंग,
मुझ में भी पावक-क्षमता है;
जड़ता से हूँ मैं बद्ध, किन्तु
मुझ में जगपति की समता है।

मैं प्रकृति-विजय करने निकला,
ठोकर खायी, गिर पड़ा, उठा,
फिर बढ़ा और मेरे श्रम से
भौतिक उन्नति का साज जुटा;

भूमण्डल हुआ कमण्डल मम
मैंने जल-थल को नाप लिया,
मेरी आकांक्षा ने जग को
वरदान दिया, अभिशाप दिया;

हूँ बना आज मैं जग-विजयी,
आकाश-जयी, भूतल-विजयी,
मैं देश-जयी, मैं काल-जयी,
मैं वायु-जयी, जल-थल विजयी।

तब से अब तक मैंने कितने
साम्राज्य बनाये, ढेर किये;
है क्या गणना, मैंने कितने
ये सीधे-उलटे फेर किये?

मानव को दास बनाकर मैं
जगती में शाहंशाह बना,
फिर प्रलयंकर विद्रोही बन
मैं मनुज-मोक्ष की चाह बना।

हिय तड़प उठा, बन गया पुंज
मैं तीव्र विरोधाभासों का,
मेरा आँगन बन गया मंच
नित नूतन ताण्डव रासों का;

चाहे मैं आज नागरिक हूँ
या हूँ अनागरिक वनवासी,
तब भी तो मैं अतृप्त ही हूँ,
प्यासा हूँ, मैं हूँ अभिलाषी;

मैं द्वन्द्वों का अभिव्यंजन हूँ,
मैं पुंजीभूत द्विधा-गति हूँ;
मैं प्रतिमा - भंजनकारी हूँ,
मैं भक्तिमयी नवधा रति हूँ;

मैं विद्या और अविद्या हूँ;
मैं श्रेय-प्रेय - सम्मिश्रण हूँ;
हूँ शान्ति-तरणिजा-धारा में
संकर्षण - संघर्षण - रण हूँ;

मुझमें सनेह का सौष्ठव है,
मुझमें विकार की परछाईं,
मेरी आँखें हैं जागरूक,
मेरी आँखें हैं अलसाईं;

उनमें लाली मादकता की,
उनमें चिरजागृति के जल-कण,
उनमें प्रमाद की निर्गति है,
उनमें अनुतापों की उलझन;

मेरे हिय में है प्यार भरा,
अभिसार भरा, मनुहार भरी,
रति भरी, दरस-लालसा भरी
औ' विकट विरति की रार भरी;

मैं सतत सनातन अन्वेषक,
मैं शाश्वत टोह - निरत प्राणी;
हूँ सर्वार्पण - साधना - लीन,
मैं यज्ञयुक्त, चिर बलिदानी;

अपने लम्बे यात्रा - पथ में –
थककर मैं बैठा हूँ न कभी,
चलता ही जाता हूँ प्रतिपल,
हैं यदपि शिथिल मम अंग सभी;

मेरे मग में धुँधलापन है,
धूमिल है मेरी दृष्टि रंच,
मेरे मस्तक से श्रमकण की
होती रहती है वृष्टि रंच ।

है लक्ष्य अलख, अस्पष्ट, किन्तु,
मेरे हिय बीच विराम नहीं,
अन्वेषण के अतिरिक्त मुझे
कुछ और यहाँ पर काम नहीं;

जिसको ढूँढ़ूँ हूँ वह क्या है,
इसका कुछ है आभास मुझे;
अपने पिय की है दरस-प्यास
ऐसी कि बुझाये भी न बुझे;

अपने मग में मैं चलता ही
जाता हूँ धीर चरण धर-धर;
हैं सहस्राब्दियाँ बीत चुकीं,
बीतेंगे अगणित मन्वन्तर ।

मम अवस्थान का छोर दूर,
मेरे पथ का विस्तार बड़ा;
मेरी प्रणोदना नित नूतन,
मेरा उत्सुक अभिसार बड़ा ।

अति दूर-दूर के बहुरंगी
चिर-संगी हैं मेरे सपने,
निश्चय अवगुण्ठन के भीतर
छिप बैठे हैं साजन अपने;

घूँघट को तनिक उठाने को
कितने युग से मैं इच्छुक हूँ;
अपनापन खो देने को मैं
देखो तो कितना उत्सुक हूँ ।

ये ललित भावनाएँ मेरी,
बलखाती हुई तरंगें ये –
क्षण-क्षण ऊपर को चढ़ती-सी
बहुरंग कल्पना चंगें ये –

जब मेरे लघु अन्तस्तल में
क्रम-क्रम से आविर्भूत हुईं,
तब मेरे नयनों के सम्मुख
इक नयी सृष्टि सम्भूत हुई ।

मैंने जल-थल में, अम्बर में,
देखे हैं अगणित चित्र कई,
इन भावों ने दिखलायी हैं
ये कई सृष्टियाँ नयी-नयी ।

मद, काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह
यह मत्सर, घृणा और करुणा,–
वात्सल्य, शान्ति, चिर नेह, लगन
मैत्री, श्रद्धा, लज्जा अरुणा, –

ये सब मेरे हिय - मन्दिर के
चिर-कम्पित-से हैं अधिवासी;
मेरे गति - उत्तेजक हैं ये,
फिर भी हैं मेरी गल-फाँसी;

ये मेरे यत्नों के प्रेरक
हैं मेरे दृढ़तम वन्धन ये;
हैं ये मेरे मन - सन्तापी,
फिर भी हैं मम हिय-नन्दन ये।

है अपनापन भी तो मुझमें
है अहंभावना की धारा,
रस-राग-समुच्चय ही से तो
व्यक्तित्व बना मेरा सारा;

हैं ऊर्ध्व गमन के अर्थ बने
सोपान रूप मम मनोराग,
पर अधःपतन - कारण बनते
ये विकृत रूप में जाग - जाग;

अपने ही हाथों स्वर्ग - नरक
रच लेता हूँ मैं जीवन में,
देवासुर का संग्राम नित्य
होता मम हृदय - रणाङ्गन में।

है निर्मित रौरव नरक किया,
मैंने भूतल में यहाँ - वहाँ;
उमड़े शोणित के उत्स कई
ज्यों ही मैं पहुँचा जहाँ-जहाँ।

असि और अग्नि से मैं खेला,
हो गयी रक्त-अम्बरा धरा;
बीभत्स श्मशान बना यह जग
जो किसी समय था हरा-भरा;

इस आँगन में है सुलग रही,
मेरी सुलगायी हुई चिता;
मम असि के घाट चढ़ी-उतरी
कंकालों की टोली विजिता।

मैंने ही आज बनाया है
अपना स्वरूप बीभत्स बड़ा,
मैं आग उगलता हूँ जग के
इस चतुष्पन्थ पर खड़ा-खड़ा।

निर्माण - तत्त्व ने आशा से
था मेरा आविष्कार किया;
पर मैंने तो अब तक जग को
केवल विनाश-उपहार दिया;

आगे, पीछे, दायें, बाँयें,
भट्ठियाँ नाश की धधक रहीं;
अंगारों के अम्बार लगे,
शोलों से लपटें भभक रहीं।

मैंने अपना अस्तित्व स्वयं
जकड़ा विनाश के बन्धन में,
चिर - हास - विलास डुबोया है
निज हाहाकारी क्रन्दन में;

प्रतिविम्ब रूप मेरे स्वरूप
हैं भाजन अत्याचारों के,
हो रहे यहाँ नाटक जग में
मेरे ही क्षुब्ध विहारों के;

पर आज अचानक ही मुझको
सुध आयी बन्धन - खण्डन की,
आतुरता मुझमें जाग उठी
यह निज शृंखला - विभंजन की

मैं डोल रहा उन्मेष-मत्त
जग में विप्लव - सन्देश लिये,
मैं आज फिर रहा जल-थल में
प्रलयंकर - शंकर - वेश किये;

मैं देवदूत, मैं अग्निदूत
हूँ मनःपूत चिर - बलिदानी,
नवजीवन का उन्नायक मैं
अंगारों की मेरी वाणी;

मम नासा - रन्ध्रों से निकली
मेरे निःश्वासों की ज्वाला;
मेरी वाणी में वज्रघोष,
मेरे नयनों में उजियाला।

मैं उग्र मुक्ति - सन्देश - दूत
कहता हूँ अपने जग जन से :
"ओ मृतको, उठो, खीर खाओ,
भूखे हो तुम अपने मन से;

ओ सिंहपूत, हैं खींच रहे
ये स्यार तुम्हारा कौर, अहो,
फैलाओ तो अपने पंजे,
मन मारे यों मत बैठ रहो;

तुम आज दहाड़ो, क्रुद्ध वीर,
कँप जाये वसुन्धरा सारी,
पर्वत शिखरें कँप जायें ये,
दहलें शृगाल अत्याचारी।

क्या कहा कि तुममें प्राण नहीं ?
मदहोशी है ? कुछ होश नहीं ?
क्यों कहते हो तुम यों कि रंच
तुममें जीवन का जोश नहीं ?

तुम तेज पुंज निर्धूम वह्नि,
तुम गहनशक्ति-भण्डार अहो,
केवल तव शोणित-सिंचन से
वसुधा है हेमागार अहो।

कड़का दो तुम अपनी बिजली,
दोहन-गढ़ होगा नष्ट, अरे,
सत्ता धारी हो जायेंगे
निज सिंहासन से भ्रष्ट, अरे।

बन गया तुम्हारा रक्त - रंग
सम्पन्नोंके दृग की लाली;
तव स्वेद - बिन्दुओं से पूरित
है उनकी मतवाली प्याली;

उनके षट्रसमय व्यंजन में
अभिव्यंजन है तव चिर-श्रम का;
उनका धन-बल तो है केवल
फल मात्र तुम्हारे सम्भ्रम का;

कब तक रहने की इच्छा है
इस धोखे में, कुछ बोलो तो;
अब तो उट्ठो, चेतो, जागो
कुछ हिलो और कुछ डोलो तो।

धरती पर बेतरतीबी से
तुम अब तक चलते आये हो,
बस इसी लिए तो तुम अब तक
टुकड़ों पर पलते आये हो;

हाँ, आज क़तारें बाँध चलो,
सम - तालयुक्त निर्बाध चलो,
दायें पर दायें, बायें पर–
बायें चरणों को साध चलो।

पद-निक्षेपों की धम् - धम् से
मेदिनी कँपा दो, थर्रा दो;
प्राचीन गगन के आँगन में
तुम नवल पताका फहरा दो।

क्यों जकड़ रखा है अपने को
इस जीर्ण पुरातन बन्धन में ?
ओ मानव, तुम गतिहीन हुए,
शैथिल्य भरा हिय-स्पन्दन में;

अब तो अपने में शक्ति भरो,
सामूहिक की अनुरक्ति भरो,
जड़ता का द्रुत संहार करो,
शंकर-विप्लव की भक्ति करो;

संगठित करोड़ों हाथों से
सत्ता - गढ़ को कर दो सपाट;
सम्राट् तुम्हारे चरण - दास
तुम हो अनेक, तुम हो विराट्;

जिनके हाथों में हल-बक्खर,
जिनके दृढ़ हाथों में धन है;
जिनके हाथों में हँसिया है
वे ही भूखे हैं, निर्धन हैं;

हे मानव, कब तक मेटोगे
यह निर्मम महाभयंकरता ?
बन रहा आज मानव, देखो,
मानव ही का भक्षण - कर्त्ता;

है स्वर्ग - राज्य स्थापित करना
मानव के इस लीला - स्थल में;
सुख - समता का विस्तार यहाँ
करना है इस जगतीतल में।

जग के उपवन में सुमन बने
हैं खिले बिन्दु तव शोणित के,
हीरक हारों में, ओ मानव,
तव युग-युग के श्रमकण झलके;

तुम दास बने उल्लास-हीन,
पैठे पृथिवी के अन्तर में;
खानों की बीभत्सता घृणित
भर लाये अपने पंजर में;

अब तो नीचे से उठो, वीर,
विचरो इस विस्तृत अम्बर में,
तुम पड़े रहोगे यों कब तक
इस गत-अनुगति-आडम्बर में ?

फिर से तुमको सन्देश मिला,
नाशों का, नव - निर्माणों का
तुम देखो तो, संहारों में
होता है उत्सव प्राणों का;

डमरू लेकर बन जाओ तो
प्रलयंकर शंकर रूप रंच,
यह नाश और नव - सृजनों की
हो लीला यहाँ अनूप रंच;

यह सृष्टि पुरानी पड़ी, बन्धु;
अब तुम रच डालो सृष्टि नई;
जिसमें उन्नतशिर हो विचरें
ये मुकुटहीन नतमाथ कई;

आता ही रहता है प्रतिपल
विप्लव का यह सन्देश महा;
जीवन के रक्त - रणांगन में
अवकाश कहाँ ? है क्लेश कहाँ ?

जूझो-जूझो, लड़ते जाओ,
गिरते जाओ, पड़ते जाओ,
नीचे गिर-गिरकर फिर सँभलो
फिर ऊपर को चढ़ते जाओ;

अन्यायों के आधारों को
भुज-बल से नष्ट-भ्रष्ट करो;
तुम नाश करो, नव-सृष्टि करो,
मानवता के सब कष्ट हरो;

क्यों चौंक रहे हो ? मत चौंको;
यह शंखनाद गम्भीर, धीर,
कम्पित करता है अन्तरिक्ष
घन-वायु-आवरण चीर-चीर;

घहराता है गुंजन नभ में,
हृदय-स्थल में उर-अन्तर में,
नव - यौवन का सन्देश आज
गूँजा मानव के घर - घर में

बाँहें फड़कीं, उत्साह नया
बल-हीनों का आलम्ब हुआ,
संहारों की प्रेरणा मिली,
निर्माणों का आरम्भ हुआ।"

■

कार्य-कारण-शून्यता

मानव की प्रयोगशाला से आयी यह ध्वनि आज :–
क्यों है ऊहापोह तुम्हारी यह इतनी बिन काज ?
कार्य और कारण के पीछे पड़े हुए दिन-रात,
क्यों तुम क्षीण कर रहे हो यों अपने कोमल गात ?
जग है नित्य अहैतुक, इसमें रंच न युक्ति-प्रमाद,
यहाँ नहीं मिलने का तुमको कोई युक्ति-प्रसाद !

क्यों कहते हो कि हैं तर्कमय सिरजन के व्यापार ?
क्या हैं हेतु-बद्ध इस जग के नैसर्गिक व्यवहार ?
नहीं, बन्धु, हैं कहाँ तर्कयुत ये नैसर्गिक खेल ?
जग में फैली कहाँ कार्य औ' कारण की यह बेल ?
कार्य और कारण है केवल मन-हय की विक्रान्ति !
'पूर्व' और 'पश्चात्' 'पर', 'अपर', यह है हिय की भ्रान्ति!!

'तब' औ' 'अब' का काल-विभाजन है नितान्त ही भ्रान्त;
और, इसी कारण मानव-हिय हुआ भ्रान्ति-आक्रान्त;
'तब' 'अब' का यह भेद न हो तो कहाँ हेतु का भाव ?
कहाँ कार्य-कारण का झंझट ? कहाँ ? तर्क का चाव ?
इसी 'पर', 'अपर' के झूले में मनुज रहा है झूल !
अतः कार्य कारण का, हिय में, खटका है यह शूल;

यहाँ काकतालीय न्याय है; यहाँ घुणाक्षर न्याय;
अतः दिखाई दिया जगत् में हमें हेतु-व्यवसाय,
नहीं हेतु-मूलकता जग में, यों है हेत्वाभास;
यों भौतिक विज्ञान कर रहा तर्कों का उपहास !

जड़ विज्ञानी अपने कर में ले अणुवीक्षण यन्त्र,–
बोला : जग में नहीं हेतु का कोई शासन-तन्त्र !

यहाँ कार्य-कारण है केवल दृग्गत स्थूल विकार;
विद्युन्मय परमाणु - कणों में नहीं हेतु-विस्तार !
यह उत्प्लवन विद्युमणियों का यादृच्छिक है नित्य,
लो, कर दिया अहैतुकता ने कारण-वाद अनित्य !
है सविकल्प सदा अणु-संहति-भेदन का व्यापार
अंशु-स्फुरणकारी पदार्थ का है विचित्र व्यवहार;

हेतुवाद की जड़ें हिलाकर यह भौतिक विज्ञान,–
मिला रहा है आज धूल में तर्क-युक्ति का मान !
कहता है : ये विद्युन्मणियाँ कण हैं ! किन्तु तरंग ।
कहता है : ज्योतिष्किरणें हैं भौतिक, किन्तु अनंग !
कहता है : यह घनीभूत जग है तरंग उत्ताल !
किन्तु तर्क कहता है : मत यों फैलाओ भ्रम-जाल !

कहता है विज्ञान : नहीं है यह कोई भ्रम-जाल,
है निसर्ग की यह लीला ही युक्ति-हीन सब काल;
जो दिक्-काल कहे जाते हैं आदि अन्त से हीन,
वे भी हैं सीमान्त युक्त औ' वे भी होंगे क्षीण;
युक्त–वाद तब बोला : मेरे, हे भाई विज्ञान,
कहीं न कहीं तुम्हारे भीतर है भारी अज्ञान !

अणु-संहति-भेदन-कारण को यदि न सके तुम पेख,–
और पूर्ण हैतुकता को तुम यदि न सके हो देख,–
तो क्यों कहते हो कि जगत है हेतु-हीन-व्यापार ?
क्यों कहते हो कि है अकारण यह समस्त संसार ?

तुम्हीं कह रहे हो कि विश्व में हैं कुछ नियम अटूट,
तब क्यों पिला रहे हो हमको यह अयुक्ति की घूँट;

यदि विस्तृत ब्रह्माण्ड महत् में है नियमितता रंच,–
यदि है नियमों के स्तम्भों पर निखिल प्राकृतिक मंच,–
समीकरण सिद्धान्त गणित के यदि हैं सृष्ट्याधार,–
तो क्यों कहते हो कि हुआ है हेतु-वाद निस्सार ?
कहो कि नहीं पा सके हो तुम अब तक कारण-ज्ञान,
किन्तु न कहो अकारण जग को, करो न निज-अपमान !

है स्वीकार कि नहीं पा सका मानव अणु का भेद,
नहीं मिटा है अब तक उसका यह अन्वेषण खेद,
किन्तु मनुज की तार्किकता है अमित प्रेरणा पूर्ण,
वह तो इस विसृष्टि का दुर्गम गढ़ कर देगी चूर्ण।
तर्कवाद बिन क्षण भर भी तो चल न सकेगा काम;
कारण-वाद-मार्ग पर ही जग चलता है अविराम।

अणुओं की, विद्युन्मणियों की, लीला अपरम्पार,
औ, खगोल दे रहा चुनौती हमको बारम्बार;
किन्तु युक्ति औ' तर्क, कहो तो, कब बैठे हियहार ?
अरब खरब लौं, अनाद्यन्त लौं, है इनका विस्तार।
आज जहाँ दिखलाई देती हेतु-शून्यता अन्ध
वहीं तर्क-रवि हमें दे रहा प्रखर ज्योति निर्बन्ध।

दिक् में काल, काल में दिक् को करके जटित सयत्न,
तुमने यह सापेक्ष्यवाद का दिया जगत को रत्न;
तर्कवाद है सदा तुम्हारा अनुग्रहीत महान,
शुद्ध सत्य शोधक हो तुम भी, हे भौतिक विज्ञान।

किन्तु तुम्हारे इस विवाद से असन्तुष्ट है तर्क;
मानो नहीं हुआ है तुमको पूर्ण सत्य - सम्पर्क !

कहते हो, है काल परिधिमय, वितति-वान है किन्तु;
तुम कहते हो, दिक् सीमित है, वर्द्धमान है किन्तु;
यदि है काल परिधिमय तो फिर उसके बाहर कौन ?
यदि दिक् है सीमित तो उसके बाहर किसका मौन ?
तर्क कह रहा है कि अगर है अन्तवन्त दिक्-काल,
तो फिर आदिवन्त भी होगी इनकी स्थिति विकराल ?

देश-काल के पहले क्या था ? कुछ तो कहो सुजान !
इनकी सीमा के बाहर का कुछ तो करो बखान।
वर्द्धमान दिक् की होती है किसमें वृद्धि महान् ?
और काल किससे वृद्धिगत होता, हे विद्वान् ?
मत कहना कि नहीं है किंचित् यहाँ तर्क का स्थान,
मत कहना कि वास्तविकता ही दिखलाता विज्ञान !

यों लगता है : कि है कहीं पर मानो कोई भ्रान्ति !
लगता है मानो आवश्यक है विचार में क्रान्ति !
संकल्पात्मक देश - काल को देकर भौतिक रूप,
मानो यह विज्ञान खोदता है नित अन्धा कूप,
किन्तु विचार मनुज का कहता है यों बारम्बार,-
निश्चय ही हट जायेगा यह घटाटोप अम्बार !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ जनवरी, १९४४

■

जीवन-प्रवाह

हहर-हहर-हर-हहर-हहर-हर,–
यह जीवन-नद उमड़ रहा है;
प्लावित कर दिक्-काल निखिल को
यह प्रवाह घन घोर बहा है;
पाकर यह प्रसाद चेतन का
सकल सृजन अति धन्य हुआ है;
यों जीवन के आरोपण से
जड़ ब्रह्माण्ड अनन्य हुआ है;
जड़ रूपिणी निरर्थकता में
यह सार्थकता चमक उठी है;
प्रखर चेतना की किरणों से
सृष्टि चमकती दमक उठी है।

क्या जानें, किस तुंग शैल की
अलख शिखर के अभ्यन्तर से,
उमड़ बह रहा है जीवन-नद
जाने कितने मन्वन्तर से!
शून्य, अरूप, अलख, निर्ध्वनि, जब
घन-ध्वनि-मय हो करके हहरा–
अदिक्, अकाल, चिरन्तन, चेतन, जब
जीवन-नद बनकर लहरा,
तब दिक्-काल बने उसे नद के
अति अमाप दो कूल-किनारे,
औ' अनेक बुद्बुद सम प्रकटे
जल-थल-नभ-चर न्यारे-न्यारे।

गहन, अलख उद्गम वाली यह
घहर रही है जीवन-सरिता,
राग-रंग आवर्त्तवती है;
है इसकी प्रवाह-गति त्वरिता;
मानव-हिय के प्रश्न अनेकों
इसके मकर बने बलशाली,
जीवन की दृढ़ता बन आयी
इस तटिनी की वहन-प्रणाली;
इसमें काम-क्रोध के वर्तुल,
गहरे-गहरे भँवर कुटिल हैं;
कोटि-कोटि उच्छ्वास-फेन से
ये दिक्-काल-कूल फेनिल हैं!

इसका घोर प्रवाह घोष यह
हास्य भरित, आक्रोश भरित है!
अयुत विरुद्ध भावनाओं का
अभिव्यंजन इसमें मुखरित है!!
संशय-कर्दम-पंकिल जल है;
द्वन्दों की उठ रहीं तरंगें;
मीन-सदृश कर उठीं केलि ये
रंग - बिरंगी हृदय - उमंगें;
असफल आकांक्षा की बूँदें
कूलों से टकराकर छहरीं,
किन्तु जा रही है बहती ही
यह जीवन की गंगा-लहरी!

कौन सिन्धु है जिसे भेंटने
आतुर होकर यह धायी है ?
अथवा, केवल यों ही क्या, यह
पन्थ भूल, जग में आयी है ?
क्या आबद्ध हो गयी है यह
इन दिक्-काल-तटों से यों ही ?
अहो, वही है यह सरिता क्या
यों ही निरुद्देश्य - ज्यों-त्यों ही ?
सोख जायगा क्या इसको यह
देश-काल का विकट मरुस्थल ?
क्या इसके प्रवाह की गाथा
होगी यों ही स्मृति-दृग-ओझल ?

क्या स्वभाव है इस सरिता का ?
क्या है यह चिर ऊर्ध्वगामिनी ?
अथवा इस अपगा की गति है
क्या सन्तत ही अधोगामिनी ?
किंवा, अधश्चोर्ध्व स्यन्दन का
क्या यह केवल भ्रम ही भ्रम है ?
यों प्रश्नों की झड़ी लगाना
क्या बिन काज, व्यर्थ का, श्रम है ?
पर, मानव, जीवन-प्रवाह लख,
कैसे बैठ रहे बिन बोले ?
बुद्धि-तुला दी है चेतन ने;
तो वह क्यों न स्वयं को तौले ?

कहते हैं : आनन्द मिटेगा
यदि निरखा जीवन गहरे से !
कहते हैं : गभीर दर्शन हित,
तुम न रुको ठहरे-ठहरे-से !!
कहते हैं : जीवन प्रवाह है;
बहे चलो अहनिशि बिन सोचे;
कहते हैं : मत रुको रंच भी,
यदपि गहन चिन्तन हिय नोंचे !
यह शिक्षा अवश्य ही होगी
जग - जीवन - कल्याणकारिणी;
किन्तु सीख यह नहीं बन सकी
द्विपद मनुज की क्लेश-हारिणी !

कैसे मनुज रहे पत्थर - सा,
प्रश्नों की ऊवा - साँसी में ?
नियति स्वयं ही झुला रही है
उसको इस ठण्ढी फाँसी में !
उसको तो यह जिज्ञासा का
मिला शाप-वरदान चिरन्तन,
ऊहापोह बिना वह कैसे
पाये निज हिय-तोष निरंजन ?
मत दो यह उपदेश मनुज को
कि वह रहे जड़वत् होकर ही;
कि वह परम सुख प्राप्त करेगा
अपनी जड़ता को खोकर ही !

आदि अलख है; अन्त अलख है;
किन्तु मध्य भी क्या सुविदित है ?
जो है दृग्गोचर जीवन - क्रम,
वह भी तो अतिशय अपिहित है
किन्तु झलक जब-तब जो मिलती
उससे तो इतना निश्चित है
कि है अबाध गमन-भय जीवन
यदपि श्रृंखला से विजड़ित है !
हो सकती है दुग्ध - फेन - सी,
जीवन की मटमैली चादर;
उसे धूसरित देख करे क्यों
कोई उसका निपट निरादर ?

प्राणों में भर अमिता दृढ़ता
मनुज आज हुंकार रहा है;
मानो निज विस्मृत स्वरूप वह
स्मृति में पुनः उतार रहा है;
इस प्रवाह - आकर्षण में पड़,
मानो भूला था अपने को,
आतुर है वह कि अब मेट दे
इस परवशता के सपने को !
सहसा आज घनक उट्ठे हैं
नवल जागरण घण्ट घनन-घन !
देखो, खुलने वाले ही हैं
मानव के लोचन - वातायन !

जो अब तक बहता जाता था
अति परवश-सा, अथवा शव-सा;
निपट अकर्ण पोत-सा, तृण-सा,
अथवा तिमि-सा, या राघव-सा;
वही प्रवाही जन्तु आज तो
उभर रहा है बन विद्रोही ;
जो वाहित था, वही हो रहा,
आज, ओघ - लहरी - आरोही !
इस जीवन प्रवाह की सृति भी
ग्रहण करेगी दिशा ईप्सिता,
मानव को न बहा पायेगी
इधर-उधर जीवन की सरिता !

यह जीवन की सरिता यद्यपि
लगती है निम्नगा निरन्तर,
किन्तु ऊर्ध्वगामिनी करेगा
इसको मानव का अभ्यन्तर;
धार बहेगी अब ऊपर को;
अधो - वहन - आभास मिटेगा;
उद्ग्रीवी होगा जीवन - क्रम;
विवश गमन का भास मिटेगा;
मानव अब हुंकार उठेगा;
मैं जगपति हूँ ! मैं हूँ स्वामी !
मनोविकारों का न दास मैं;
मैं निज सत् स्वभाव अनुगामी !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१३ फ़रवरी, १९४४

■

मानव की क्या अन्तिम गति-विधि ?

क्या है नर का भाग्य जगत् में ?
क्या है उसकी अन्तिम गति-विधि ?
आवागमन-रेख ही से है
क्या चिरवेष्ठित उसकी सुपरिधि ?
लख निज को, लख इतर जनों को
उगते, बढ़ते औ' मुरझाते,—
लख घूर्णित गति-चक्र जगत् का,
ऐसे प्रश्न हिये - फुर आते;
क्या है कुछ उद्देश्य ? या, कि है
केवल निरुद्देश्य जग - सम्भ्रम ?
मानव का क्या काम यहाँ पर ?
निरुद्देश्य है क्या जीवन - क्रम ?

मैंने जब - जब पूछा 'क्या है ?'
तब - तब अनुध्वनि आयी 'क्या है' ?
मेरी ध्वनि लौटी बन प्रतिध्वनि;
यह अच्छी भौतिक विद्या है !
मेरी यह 'क्या है ? क्या है ?' सुन,
मानो जग मुँह चिढ़ा रहा है;
अम्बर यह, अज्ञात, अगम से,
मुझको मानो भिड़ा रहा है;
क्या है भवितव्यता ` मनुज की ?
उसका भी है क्या अपना पद ?
या उसका जीवन है केवल
दस पैने नख, तीस तीक्ष्ण रद ?

पीछे मुड़कर मैंने डाले
जन - यात्रा - पथ पर अपने चख;
उस पर अंकित मुझे मिले हैं
हिंसक पशुओं के पंजे, नख !
मैं निकला था हुलस ढूँढ़ने
मानव - चरण - चिह्न अंकित मग,
किन्तु मुझे मानव से ख़ाली
लगा अतीत युगों का भी जग !
मैंने लखा आज अपने को;
लखे पार्श्ववर्ती अपने जन,
मैंने अपने में, अन्यों में
लखे रक्त के प्यासे पशु गण;

मैंने देखा निज अन्तर में
पंजे फैलाये इक नाहर !
और निहारे कई भेड़िये
गुर्राते अपने से बाहर !
मैं हूँ कौन ? कौन हैं ये सब ?
सोच रहा हूँ मैं यों पल-पल,
है किनका समाज शोणित रत ?
किन - किन का यह कोलाहल ?
क्या मैं मानव हूँ ? या मैं हूँ
केवल कुछ उफ़ान की सन-सन ?
क्या मानव मानव है ? या हैं
वे सब घनीभूत उत्तेजन ?

कभी - कभी तो यों लगता है
कि है जगद् - व्यापार अहैतुक;
यह है इक जंजाल अकारण;
यह है एक बखेड़ा बेतुक;
यह जो चेतनता है जग में
वह भी है मरीचिका – झाँईं !
यह जो जीवन लहराता है
वह भी है भ्रम की परछाँईं;
नर का ज्ञान-भान है केवल
वानर – कर - करवाल भयंकर,
देखो आज उसी के कारण
फैला है प्रमाद प्रलयंकर !

कौन काम इस चेतनता का
चिर जड़-रज्जु-बद्ध इस जग में ?
है यह विश्व कालमय, दिङ्मय;
चेतन क्यों हो इसके मग में
देश – काल चेतना – शून्य हैं;
वे ही हैं ब्रह्माण्ड – विधाता;
ऐसे चिर निर्जीव विश्व से,
चेतनता का कैसा नाता ?
जड़ता है जिसके कण-कण में,
जड़ता जिसकी लहर – लहर में,
ऐसे जग चेतन आये, तो,
वह क्यों हो न खिन्न अन्तर में ?

जीवनार्थ परमावश्यक है
जहाँ उष्णता भी थोड़ी - सी,–
जहाँ प्रकृति चलती रहती है
चिन्मयता से मुँह मोड़ी - सी,–
ऐसे इस ब्रह्माण्ड - भाण्ड में,
जिसमें ठुसी भरी है जड़ता,–
यदि चेतन - कण आ जायें तो,
मन में है यह भाव उमड़ता,–
कि यह चेतना जगड्वाल में
निरी व्यर्थ, अप्रासंगिक है !
मानो प्रकृति कह रही इससे :
तुझे, चेतने, धिक है ! धिक है !!

आज यही निःसार - भावना
उमड़ रही है अन्तरतर मे;
आज यही लहरें उठती हैं
प्रश्न - मथित मम मानस-सर में;
पर कोई कहता है चुपके :
'किन्तु······' और मैं जग जाता हूँ,
अपनी इति निश्चितता पर मैं
फिर विचारने लग जाता हूँ;
क्या यह चेतन निरा व्यर्थ है ?
क्या मानव आया है यों ही ?
ये विचार क्या बना न देंगे
नर को और विकट नर - द्रोही ?

मैं इस मानव को क्यों कोसूँ ?
मैं क्यों धिक्कारूँ जीवन को ?
मानव को उपमानव-सा लख,
मैं क्यों मारूँ अपने मन को ?
मानव ही ने पहनायी है
प्रकृति - नटी को नूतन साड़ी !
मानव ही उसके संग खेला;
ऐसा मानव कुशल खिलाड़ी !
मानव ही उसके दुरूहतम
अन्तस्तल में पैठा अचलित;
मानव ही ने उसे दिया है
नियमों का पाटम्बर सुललित !

चेतन बिन जो निपट अन्ध थी,
उसके हुए अनेकों लोचन;
चेतन संग हुआ गठ - बन्धन;
माथे जीवन - कुंकुम - रोचन !
हुई कुमारी जब परिणीता,
भागा दूर द्विधा का घनतम !
उन दोनों के सह - मन्थन का
मानव निकला फल सर्वोत्तम !
लख मानव की यह अपूर्णता
क्यों विराग मेरे हिय जागे ?
उसकी गति - इति नहीं हुई है;
वह तो और बढ़ेगा आगे ।

क्या आश्चर्य कि जन - यात्रा पथ
सिंह - व्याघ्र - नख से हैं अंकित ?
धीरे - धीरे ही होती है
आदिम हिंस्र वृत्ति अति - लंघित;
उस पथ को कुछ झुककर देखो,
तो पाओगे वे चरणांकन,
जिनको निरख हुलस उठते हैं,
जन गण लोचन, जन हिय-प्रांगण !
वे पद-चिह्न, कि काल - सलिल पर
चिर ध्रुव छाप कर गये अंकित,
वह मग - रेखा, जो कि करेगी
युग - युग लौं जन - मन निःशंकित,

मानव की क्या गति होगी ? यों
हिय में आज उठे क्यों शंका ?
सुनो - सुनो, बज रहा दूर पर
मानव की जय - जय का डंका !
फहर रही है विजय पताका,
घहर रहे हैं घण्टे घन - घन;
मानव - मुक्ति - आगमन का यह
श्रवण पड़ रहा गहर तुमुल स्वन,
मत निराश हो, ओ मानव तू,
मत निराश हो ओ हिय मेरे;
देख, दूर पर विहँस रहे हैं;
वे आदर्श प्राण प्रिय तेरे !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ सितम्बर, १९४३

■

धधक उठो अब, ओ वैश्वानर

धक-धक धधक उठो, री ज्वाला,
हर-हर हहरो तुम, वैश्वानर !
अन्धकार का भार हरो यह;
छिटकाओ निज ज्योति अमाहर !!

यह एकाकी मानव बैठा
गहन गिरि - गुहा में खोया-सा,
नग्न शरीर, निबिड़, तिमिरावृत,
यह जागृत-सा, यह सोया-सा;

भीति ग्रस्त यह द्विपद, शूर्पणख,
यह अजान, यह लोमावृत तन,
अगम विजन-विचरण-रत यह जन,
मूढ़, क्षिप्त-विक्षिप्त भ्रमित मन,

यह अकुशलकर, यह अज्ञानी,
यह नर, जो लगता है वानर —
आज कर रहा है आवाहन:
धधक उठो तो, ओ वैश्वानर !

किच-किच, किट-किट, अगढ़, अनर्गल,
गड़-बड़, बर्बर जिसकी वाणी,
जिसके आदि शब्द का क्रम भी
है अचरज की एक कहानी,—

मानव वही कर उठा सहसा
आज प्रचण्ड अग्नि-आराधन !
वही अग्रसर आज हुआ है
करने को तम-हर दव-साधन !!

निपट निरग्नि आज निर्जन में
बोला : आओ ज्योति अमाहर,
धक-धक धधक उठो री ज्वाला,
हर-हर हहरो, ओ वैश्वानर !

यहाँ चतुर्दिक् अन्धकार है,
फैली अवास्तविक की माया,
यहाँ अपरिचित का संशय है,
यहाँ सभी दिशि है भय छाया,

दिन का गोला चमक-चमक कर
सदा साँझ को छुप जाता है,
और रात का वह गोला भी
रह - रह कभी - कभी आता है !

अन्धकार को देख मनुज का
हिय कँपने लगता है थर - थर,
औ' पुकारता है वह बरबस :
धधक उठो अब, ओ वैश्वानर !

मानव ने देखा कि तिमिर में
होती है गर्जना भयानक,
मानव ने देखा कि तिमिर में
होते हैं आक्रमण अचानक;

मानव ने देखा कि तिमिर में
परिचित भी बन गये अपरिचित;
मानव ने देखा कि तिमिर में
भय ही भय है भरा अपरिमित;

मानव ने सोचा कि कर सकूँ
यदि मैं स्ववश प्रकाश अमाहर,
तो भय भागे; ज्ञान जग उठे
यदि धधके प्रचण्ड वैश्वानर !

लखी शैल ज्वाला मानव ने,
जंगल में निरखी दव-ज्वाला,
मानव ने सोचा : सुलगाऊँ
कैसे यह ज्वाला विकराला ?

शक्ति - साधना की इस पहली
सीढ़ी पर चढ़ने को उत्सुक, —
मानव लगा सोचने अपने
पथ की पगडण्डी पर झुक-झुक !

अनल-मन्त्र - साधन करने को
उद्यत है यह मानव बर्बर,
वह मन में गुनगुना रहा है
धक - धक धधको ओ वैश्वानर !

रंच दृगों में अचरज भरके
प्रकृति निहारे इस प्राणी को,
विधि की अबल इस निशानी को,
डग-मग - पग - इस अज्ञानी को,

कितने भीम काय इससे भी
पहले आये हैं भूतल पर,
पर, किनने सोचा कि करेंगे
वे अधिकार प्रचण्ड अनल पर ?

किन्तु नितान्त नगण्य जन्तु यह
होने चला कृशानु - धनुर्धर !
और कह रहा है अन्तर में;
हर-हर हहरो, तुम, वैश्वानर !!

किसने सोची प्रकृति तत्त्व को
यों अपने वश में करने की ?
किसने सोची यों अन्तर में
अनिल-अनल-महिमा भरने की ?

यह है इसी द्विपद का साहस,
यह तो इसका ही जीवट है !!
अग्नि - वायु के वशीकरण का
तो इस प्राणी का ही हठ है !!

इसके इन कौतुक - यत्नों को
लगा देखने सकल चराचर
और उठी इसकी कण्ठ-ध्वनि :
धधक उठो अब, ओ वैश्वानर !

यों मानव ने अन्धकार में
ज्योति जगाने की सोची विधि,
मानव निबल चला यों करने
अपनी सीमित सत्ता अपरिधि !

हस्तांगुष्ठ, अँगुलियाँ इसकी
कौशल का नव सृजन कर चलीं,
अथवा जगती के घन, दुर्दम,
निविड़ तिमिर का हरण कर चली;

यह मानव ही था कि गुँजाये
जिसने 'कोऽहं ? कोऽहं' के स्वर
यह मानव ही था जो बोला :
धधक उठो अब, ओ वैश्वानर !

रिच्छ, व्याघ्र, अजगर-नाहर ने
कभी न पूछा 'कोऽहं ? कोऽहं ?'
मानव है जिसने यों पूछा;
औ' फिर बोला 'सोऽहं ! सोऽहं !!'

मानव ही के हिय में जागी
चाह अनल के आराधन की
मानव ही के हिय में जागी
चाह नग्नता-आच्छादन की !

निखिल सृष्टि जल रही दिगम्बर
मानव ने सोचा पाटम्बर !!
लख तम, मनुज पुकार उठा यों :
धधको, धधको, ओ वैश्वानर !

इसने पत्थर से पत्थर को
खाकर रगड़ चमकते देखा,
इसने घर्षण से जंगल को
जलतें और दमकते देखा;

मानव लगा सोचने मन में :
आग छिपी है क्या घर्षण में ?
क्या घर्षण ही से पाऊँगा
चिर भय-हरण अग्नि-दर्शन मैं ?

अरणी से अरणी मथकर वह
बोला : प्रकटो, ओ चिरतम-हर !
अन्धकार का भार हरो यह,
हर-हर हहरो, ओ वैश्वानर !

सोचो कितना मुदमंगलमय,
सुन्दर होगा वह पावन क्षण ?
जिस क्षण मानव के द्वयकर से
छिटके होंगे रजत अनल-कण ?

वह था प्रथम प्रयत्न मनुज का
नियति प्रकृति के स्ववश-करण का
वह क्षण था अज्ञेय पन्थ में
नर के सर्वप्रथम विचरण का;

प्रकृति-बधू के चीर-हरण का
वह शुभ क्षण था भयहर, मनहर,
वह क्षण था, जब मानव बोला :
जागो ! जागो ! ओ वैश्वानर !

फैलीं चिनगारियाँ चमक कर,
ऊँची लपटें उठीं लपककर,
जगने पायी प्रचुर अग्नि-निधि
उमड़ी ज्वाल लाल भक-भक कर;

पूर्ण हुई मानव साधक की
तिमिर-विजय-साधना भीति-हर;
जन का निशा-विजय-यात्रा-पथ
हुआ चमत्कृत औ' प्रशस्ततर !

भय भागा, सन्देह मिट गया,
पथ में चमकी ज्योति अमाहर;
धक-धक धधक उठीं ज्वालाएँ !
हर - हर हहर उठे वैश्वानर !

तब से अब तक पार कर चुका
यह मानव इतने मन्वन्तर,
अवगुण्ठन - आवरण प्रकृति के
हरण किये इसने अति श्रमकर

वैश्वानर को अपने वशकर
इसने खोजे तत्त्व प्रकृति के
बड़ी दूर लौं पैठ चुका यह
गहन गर्भ में इस संसृति के

पर न अभी तक बुझ पायी है
इसकी शाश्वत टोह - पिपासा
जितना ही गहरा यह पैठा,
उतनी बढ़ी 'और' की आशा ।

अरे, तृप्ति तो है गति बाधक, तो फिर, प्यास जगे तो जागे !
सर्व व्यापिनी प्यास छोड़कर, मानव, कहो, किधर को भागे !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२८ सितम्बर, १९४३

■

धरती के पूत

तुम पृथिवी के सुवन, अरे तुम ओ मृत्तिका-प्रसूत निरे,
तुम खेतों खलिहानों के सुत, तुम धरती के पूत निरे,
घास और कड़बी-सँग शैशव-काल बिताने वाले, ओ,
तुम हो मक्का, ज्वार, चनों के संग-संग सम्भूत निरे।

ओ ग्रामीण आन पहुँचे हो, आज ग्राम की छाया में
फिर भी नागरता का छिलका लिपट रहा है काया में!
रँगे स्यार - से तुम जँचते हो इस आडम्बर - हीन गृहे,
बनो प्रकृत नर, रहो न हठ कर कृत्रिमता की माया में।

यहीं चरम दारिद्रय, दैन्य में जीवन उगा और फूला,
यहीं परिस्थितियाँ घिर आयीं, दुख मूला अति प्रतिकूला;
यहीं हुआ कुछ-कुछ विकसित नित मानस दिङ्मण्डल सारा,
ओ नगर देहाती, तुमने यहीं बहुत सीखा, भूला।

याँ बीते शैशव के सपने, झिल-मिल-सी स्मृति शेष रही,
बीती हैं कौमार्य - काल की सब घड़ियाँ अवशेष यहीं;
यौवन का आगमन हुआ है इन्हीं द्रुमों की छाया में,
आज कहाँ हैं वे सब बातें? रहा न उनका लेश कहीं।

आज साँझ को गोरज बेला, चिर परिचिता पहाड़ी ये,
खूब चढ़े तुम गिरते - पड़ते चोटी निरी उघाड़ी ये,
उखड़ी साँस, हृदय-गति धड़की, चरण कँपे, नासा फूली;
लो, अधेड़पन चढ़ आया है नित्य नवीन खिलाड़ी ये।

इस झुट-पुटे समय में देखो, मन गहरे में डूब रहा,
अन्यमनस्क - भावना आयी, हिय उलझा-सा ऊब रहा;
खिंचे जा रहे हो ज़ोरों से, तुम पीछे को बरबस - से !
सन्ध्या की श्यामल घड़ियों में यह मज़ाक़ भी ख़ूब रहा !

क्यों है यह इतना आकर्षण, उन संचित संस्मरणों में ?
क्यों है मादकता संस्कृति के झंकृत चरणाभरणों में ?
मद है, मोहकता है, रस है और ज़बर्दस्ती भी है,
पूरी तानाशाही ही है स्मरण - राज्य - उपकरणों में ।

कौन बताये तुम्हें कि क्यों है मादकता घड़ियों में ?
तनिक कहो मादकता क्यों है करुणा गीत की कड़ियों में ?
अपनों की सुध करके क्यों यों प्राण टूटने लगते हैं ?
उनकी याद कहो क्यों आती पावस ऋतु की झड़ियों में ?

स्मृति - आकर्षण - तत्त्व - निदर्शन क्या जाने नवीन ज्ञानी ?
वे तो बस ऐसे क्षण, भर-भर लाते हैं दृग् में पानी,
इतना वे अवश्य कहते हैं; जीवन है स्मृति - पुंज निरा;
स्मृति में निज साक्षात्कार ही अनुभव करते हैं प्राणी ।

आत्म - रूप - दर्शन में सुख है, मृदु आकर्षण लीला है,
और विगत जीवन - संस्मृति भी स्वात्म - प्रदर्शन - शीला है;
दर्पण में निज बिम्ब देखकर यदि हम सब खिच जाते हैं,
तो फिर संस्मृति तो स्वभावतः नर-हिय-हर्षण-शीला है ।

वह आयी, देखो आयी है वह तन्वी संस्मृति रानी –
गत जीवन-घटनाओंके मृदु नूपुर पहने कल्याणी,
वन-शृगाल; मत शोर मचा, तू सुनने दे झंकार अरे,
गेह प्रवासी, गेह विनाशी उत्सुक हैं नवीन ज्ञानी, –

ठहर, अरी ओ वर्तमान को नव - सन्देश - पवन - दूती, –
यों दहाड़ती-सी मत बह तू, कर न शोर हा - हा - हूति,
संस्मृति के नूपुर की झन - खन अन्तरिक्ष में गूँज रही
तू सन - सन करती न डोल री, दोनों श्रवणों को छूती !

एक - एक घटना जीवन की, याद आ रही रह - रह के
इन्हीं ग्राम - गलियों में, मौजी, तुम कितने भटके, बहके !
नव विकास की प्रथम वेदना यहीं हुई अनुभूत तुम्हें,
यहीं तुम्हारे भाव - विहंगम पहले - पहल ज़रा चहके

वह नंगे पैरों नित रहना, वह नि:साधनता सारी,
अपर्याप्त वे वस्त्र तुम्हारे वह दारिद्रय कष्टकारी;
ये तो बचपन के साथी हैं, अब तक साथ निभाते हैं,
अति दारिद्रय - दैन्य - पीड़ा के तुम हो शूल - मुकुट - धारी।

तुम गुदड़ी के लाल ? नहीं, पर हो गुदड़ी के बाल सखे,
उस दरिद्रता में दुख पाके तुम हो गये निहाल सखे,
दुख पाया, अरमान मर मिटे, बहुत सहा, भोगा इतना !
पर इस सकरुण हिय को पाकर तुम हो माला-माल सखे ।

■

आये नूपुर के स्वन झन-झन

आये नूपुर के स्वन झन-झन
खिंच गये प्राण भर गये श्रवण,
आये नूपुर के स्वन झन-झन !

हो उठा तरंगित सुख-समीर,
काँपा अम्बर का वक्ष धीर,
आयी श्रवणों में उत्कण्ठा
जग गयी जगत् की बिसुध पीर
जब ध्वनि आयी रुन झुनन-झुनन, जब गूँजा मादक नूपुर स्वन !

भर गया दिशाओं में सपना !
जग भूला अहं भाव अपना !
मृण्मय भी बना परम तन्मय !
झंकृति - गुंजार - वितान तना !
स्वर भर लहराया मलय पवन ! आये नूपुर के स्वन झन-झन !

कोऽहं की तान पुरानी मम,
अब तक थी अनुत्तरित विभ्रम,
पर अब नूपुर - गुंजारों में !
मिल गया समुद सोऽहं का सम !
हमने पाया कुछ आश्वासन; आये नूपुर के स्वन झन-झन !

हिय का यह हा-हा कार निरा,–
जिससे यह जीवन आज घिरा,–
क्यों अब न शान्त, उपरमित बने ?
मन अब क्यों डोले फिरा-फिरा ?
जब कान पड़ी यह ध्वनि नूतन, आये नूपुर के स्वन झन-झन !

सब पूछें हैं झन-झन क्या है ?
जग पूछे है यह स्वन क्या है ?
हम शब्द-मूढ़ क्या बतलायें ?
प्रिय का यह चपल गमन क्या है ?
हो सकता है यह अल्हड़पन, आये नूपुर के स्वन झन-झन !

झन-झन – श्रवणागत अनिल-लहर
झन-झन – यह अनहद-नाद गहर,
झन-झन – ये ध्वनि-सुरधुनी-भँवर,
झन-झन-झन – अमर प्रणय-अक्षर;
झन-झन-झन गूँजा हिय-आँगन; आये नूपुर के स्वन झन-झन।

ध्वनि धाराएँ रिम-झिम बरसीं,
दश दिशि गुंजारमयी सरसीं;
ध्वनि सुनी; किन्तु झाँकी न मिली
प्यासी दृग कनिकाएँ तरसीं;
वे अलख; अलख उनके सुचरण; आये नूपुर के स्वन झन-झन।

दायें - बायें; आगे - पीछे, –
बाहर, भीतर, ऊपर, नीचे, –
सब ओर सुनी गुंजार वही,
ध्वनि ने जल-थल अम्बर सींचे;
अनमने प्राण, मन नाद-मगन; आये नूपुर के स्वन झन-झन !

आये अग को करते जग वे
अपगा को देते गति-पग वे,
चंचलता का पल्ला पकड़े,–
आये धीमे धरते डग वे;
हुलसा सिरजन; गूँजा कण-कण, आये नूपुर के स्वन झन-झन !

धरती नाची; नाचा अम्बर,
तारक-माला नाची सत्वर;
ता-थइ, ता-थइ कर नाच उठे,
अनगिनत सौर-मण्डल थर-थर;
उनने जब किया चरण-नर्तन; आये नूपुर के स्वन झन-झन !

कुछ धुआँ और कुछ द्रव्य-तरल,
उसमें भर गति का चपल-गरल,–
रच डाला यह सिरजन-प्रपंच,
गो वे बनते हैं बहुत सरल !
गूँजा नितान्त निस्तब्ध - गगन, आये नूपुर के स्वर झन - झन !

था मौन किसी क्षण यह प्रपंच,
आभास नाद का था न रंच,
पर किसने मुखरित कर डाला,–
निस्तब्ध सृष्टि का रंग - मंच ?
है अनु-गुंजित किंकिणि शिंजन, ये हैं नूपुर के स्वन झन - झन !

उल्लास भरे, उन्माद भरे,–
मद भरे और अवसाद भरे,–
हम आज पूछते हैं : उनसे,–
कोई किस तरह विवाद करे,
जब नूपुर बोलें झनन-झनन, हो उठें प्राण-मन, जब उन्मन ?

देखा टटोल हमने अन्तर,
खोजा हमने बाहर - भीतर,
यूँ ही टटोलते बीते हैं,
ना जाने कितने मन्वन्तर;
पर मिटी न मन की यह तड़पन, हम खोज रहे हैं नूपुर-स्वन ।

युग-युग पहले, जिस दिन, जिस क्षण,
पाये हमने सुकुमार – श्रवण,
उस दिन, उस क्षण ही से हम तो,
सुनते आये हैं, यह गुंजन,
पर मिले न पिय के पदाभरण, यद्यपि सुनते हैं स्वन झन-झन !

परदा ही है मंज़ूर अगर,–
करना ही है दिल-चूर अगर,–
तो छिपे रहो नूपुर वाले,
भटकाओ हमको डगर-डगर !
तुम लुक-छिप बैठ रहो बन-ठन, ठुनकाओ नूपुर स्वन झन-झन !

अपनी हस्ती ही आज बनी,
परदे की यह दीवार घनी,
पर, इस हस्ती ही से हमने,
पायी यह श्रवण-शक्ति इतनी,
हो हमें मुबारक अपनापन, जो श्रवण कर सके नूपुर-स्वन ।

तुम 'और' और हम 'और' रहें,
तुम उस दिशि, हम इस ओर रहें,
तुम छुप छुमकाओ नूपूर; हम,–
श्रोताओं में सिर-मौर रहें ।
ध्वनि ही कर लेंगे आलिंगन, तुम आने दो नूपुर के स्वन ।

कैसे होंगे वे आभूषण ?
कैसे होंगे वे पदाभरण ?
हम आज सोचते हैं मन में,–
कैसे होंगे वे हृदय-हरण :
जिनसे ध्वनि-भरित-गगन-प्रांगण, जिनकी ध्वनि आती है खन-खन ।

निशिपति की रजताभा लेकर,
उसमें घन-द्रव्य-भाव भर-भर,
कौशल ने स्वयं गढ़े हैं वे;–
ब्रह्माण्डाकृति नूपुर हिय - हर,
जो देते हैं जग को जीवन, है ध्वनि जिनकी त्रय-ताप-हरण ।

उन आभरणों में गुँथी पड़ी,
दिन-मणि-किरणों की रजत-लड़ी;
जो चरणांगुलियों में उलझी –
झिलमिल होती है घड़ी - घड़ी !
ज्यों ही कुछ डोले चारु-चरण, आयो नूपुर की ध्वनि झन-झन !

सातों स्वर, मुक्ता-कण बन-बन,
भर गये नूपुरों में तत्क्षण,
नूपुर, नूपुर तो रहे, किन्तु,
वे हुए परम संगीत - सदन,
हो चला सप्त-स्वर का मन्थन, जब आये नूपुर स्वन झन-झन !

रवि - शशि की चाँदी के नूपुर –
दिशि-दिशि गुंजित हैं मधुर-मधुर,
मुखरित संसृति की गली - गली,
गुंजरित हमारा अन्तःपुर;
हम सतत-मगन, सुन नाद गहन : आये नूपुर के स्वन झन-झन !

ध्वनि सुनी कान, स्मृति जाग उठी,
मानो विराग को त्याग उठी,
जैसे कुछ सहसा याद पड़ा,
स्मृति ले नव-नव अनुराग उठी ।
टूटे मानो माया बन्धन, जब आये नूपुर स्वन झन - झन !

सदियों की क्या गिनती वाँ' पे –
मन्वन्तर खड़े जहाँ काँपें !
ध्वनि सुन, जब स्मृति जागे अतीत,
तब शतसंवत्सर क्या नापें ?
होते युगान्त के सुसंस्करण, जब आते हैं नूपुर के स्वन ।

सोयी-सी प्रीति पुरानी वह –
विस्मृत, अतीत नादानी यह –
छिन-भर में ही उठ आती है –
करती हिय पानी-पानी वह;
ध्वनि है कि कान का विगति-कलन ? आये नूपुर के स्वन झन-झन !

ये स्वर अनादि, ये स्वर अनन्त,
यह कल निनाद निर्झर अनन्त,
यह देश काल सीमान्त हीन,
गुंजन मन - हरण अनाद्यवन्त !
करते त्रिकाल गति का खण्डन, आये नूपुर के स्वन झन-झन !

अपने प्रिय के ये पदाभरण,–
अपने प्रिय के सुकुमार चरण,–
अपने प्रिय की अटपटी चाल,–
उनका यह मादक अभिव्यंजन,–
है इन श्रवणों का वशीकरण, – आये नूपुर के स्वन झन-झन !

अन्तस्तल में इक हूक उठी,
पद-रति यह अवश अचूक लुटी ।
दर्शन उत्सुकता उमड़ पड़ी,
निर्निमिष बन गयी नयन-पुटी ।
गूँजे नूपुर के स्वन जिस क्षण, जब आयी नूतन झन, झन, झन ।

वे चिर नवीन, वे चिर नूतन,
वे सतत सनातन, सुपुरातन,–
न जाने कितने युग से वे,–
करते आये हैं मन-मन्थन ।
है कितना शेष हृदय-घर्षण, कब तक आवेंगे स्वन झन-झन ?

कब तक? जब तक हम अलग-अलग,
अपने पिय से हैं विलग-विलग,
तब तक, जब तक ध्रुव गतिविहीन—
हैं चरण, शिथिल डगमग-डगमग
जब तक न करें पिय हमें वरण, तब तक आवेंगे स्वन झन-झन।

जब सप्तपदी पूरी होगी,
जब लुप्त द्वैत दूरी होगी,
जब पिय गलबहियाँ डालेंगे
जब उनकी मंज़ूरी होगी
तब हम बन उनके नूपुर स्वन, गूँजेंगे झन-झन झनन-झनन!

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२१ मार्च, १९३०

■

यह है द्वापर, यह है द्वापर

यह है द्वापर, यह है द्वापर;
कलियुग इसे कौन कहता है? यह है दुश्चिन्ताओं का घर!
यह है द्वापर, यह है द्वापर!

यहाँ गरजते हैं संशयगण, मुखरित हैं सन्देह भयंकर;
विचिकित्सा ठग रही हृदय को; हुई जन-गणों की मति संकर;
लुटी अटल विश्वास - सम्पदा, छूटा निःश्रेयस पथ - शंकर;
चंचल प्रश्नावलियाँ उभरीं करने ध्रुव का सतत निरादर;
यह है द्वापर, यह है द्वापर!

प्रज्ञा प्रमथित, चलित चेतना, बुद्धि चकित, मति भ्रमित निरन्तर,
मन कम्पनमय उन्मन-उन्मन, शंका क्रान्त सकल बहिरन्तर;
ऐसे क्षण कलियुग-द्वापर में किमि कोई बतलाये अन्तर ?
दुविधाओं की यह अनीनिका चढ़ आयी है शंख-नाद कर !
यह है द्वापर, यह है द्वापर !

तुम छेत्ता भव - भय - संशय के, पार्थ सारथी तुम करुणाकर,
धीर चरण धरते, तम हरते, क्यों न पधारो आज कृपा कर ?
देखो तो बहिरंग विकल है, सन्देहाकुल है अन्तरतर,
ऊषा को सुहाग देते तुम आ जाओ, ओ जग के तमहर;
यह है द्वापर, यह है द्वापर;

ग्वाल, बाल, गोपी - गायों को कोई कहीं ले गया है हर,
गोकुल उजड़ा, लुप्त हो चुका गुल्म लताओं का भी मर्मर !
थका - थका - सा आज लग रहा कालिन्दी का गहर घहर-स्वर ।
आ देखो तो वृन्दावन की दशा आज तुम, ओ नटनागर;
यह है द्वापर, यह है द्वापर !

आओ, नैक बजाओ मुरली, फूँको पांचजन्य फिर स्वर भर,
फिर जागृति का नाद गुँजा दो; काँप उठे चेतनता थर - थर;
फिर से श्रवणों में नित गूँजे तव मुरली, तव शंख मोहहर;
सिरजो नये ग्वाल, नव गोपी, नव गोकुल, नव भारत प्रियवर;
यह है द्वापर, यह है द्वापर !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२४ अगस्त, १९४३

■

है निज वश तन, पूर्ण स्ववश मन !

यह परवश तन, यह परवश मन;
इस पिंजर, इस बन्धन में फँस पंछी तड़प रहा है क्षण-क्षण;
यह परवश तन, यह परवश मन ।

वह 'पर' कौन कि जिसके वश हैं जीवन के सब कर्म अनूठे ?
वह 'पर' कौन, किये हैं जिसने जन के सभी कर्म-फल जूठे !
अरे कौन वह जिसके कारण हम अपनेपन ही से रूठे,
वह 'पर' कौन लगाया जिसने जीवन में यह दव, यह ईंधन ?
यह परवश तन, यह परवश मन !

बोले सभी तत्त्वदर्शीगण कि यह सभी है इन्द्रिय - पीड़ा,
कुछ बोले; यह तो है केवल मन-मातंग मत्त की क्रीड़ा !
यदि यह है तो कहो क्यों बनी इनकी क्रीड़ा जन की व्रीड़ा ?
मन, इन्द्रिय के बीच फँसा है क्यों यह द्विपद बिचारा लघु जन ?
यह परवश तन, यह परवश मन,

क्षण-भर में ही हो जाते हैं क्षार-क्षार दृढ़ निश्चय सारे,
इक आँधी-सी जब उठती है, उड़ते हैं तिनके बेचारे;
जाने क्यों फिरने लगते हैं सकल मनोरथ मारे-मारे !
और, पूछ उठता है मानव : यह क्या क्रम ? यह कैसा नर्तन ?
यह परवश तन, यह परवश मन ?

कई बरस-गाँठें जीवन की डोरी में लग चुकीं अभी तक,
बीत चलीं बरसों पर बरसें; भेज चुका आवाहन अन्तक;
कुछ उतार आ चला नशे का, तन भी चला रंच कुछ-कुछ थक
किन्तु आज तक भी होती ही रहती है जीवन में झन-झन !
यह परवश तन, यह परवश मन !

यह कैसी दुबिधा जीवन में ? यह कैसा संकेत भयानक ?
नर को नारायण करने का क्या है यही अनोखा बानक ?
या नारायणता भ्रम ही है ? होता यह सन्देह अचानक,
मन - इन्द्रिय के बीच फँसा यह नर कैसे होगा नारायण ?
यह परवश तन, यह परवश मन !

मन औ' इन्द्रिय गण तो जड़ हैं; उनमें चेतनता कब झाँकी ?
वे तब चले जब कि जीवन ने उनमें स्फुरण शक्ति निज आँकी !
पर, अब आकर खड़ी हो गयी सम्मुख एक पहेली बाँकी :
क्या, जन का जीवन है केवल मन-इन्द्रिय का सतत तुमुल रण ?
यह परवश तन, यह परवश मन !

यह जीवन ही है जो अह निशि, गिर-गिरकर फिर-फिर बढ़ता है,
यह जीवन ही है जो सन्तत नीचे से ऊपर चढ़ता है,
यह जीवन है जो कि हारकर फिर उठता है, फिर लड़ता है
मिट्टी में मिलकर भी ऊपर उठने को करता है कम्पन,
यदपि विवश है जन-गण-तन-मन !

इन्द्रिय नहीं, स्वयं जीवन ही अपनी खींच-तान करता है,
मन की क्या विसात ? जीवन ही गिरकर फिर उड़ान भरता है,
स्वयं इन्द्रियों में फँसता है, उनका सतत ध्यान धरता है;
हो आकण्ठ निमग्न पंक में वही स्वयं करता है क्रन्दन,
यह परवश तन, यह परवश मन !

संयम हो न सके तब भी हम क्यों समझें कि व्यर्थ है नियमन ?
आत्म-दमन ही से पाया है नर ने पूर्ण महा मानव-मन !
जन-गण की सभ्यता-सम्पदा संयम का ही है शुभ लक्षण;
तब क्यों हो नैराश्य हृदय में ? गिर-गिरकर भी क्यों न कहें जन :
है निज वश तन ! पूर्ण स्ववश मन !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
५ सितम्बर, १९४३

■

विनिपात

अरे दिव्य आदर्श, आज है
निपट अँधेरी मेरी धरती,
कर्म प्रेरणा बढ़ा रही है
निज कम्पित पग डरती-डरती,
किधर बढ़े ? किस दिशि वह जावे ?
दिशा-ज्ञान सब सुप्त हुआ है;
कर्म - पन्थ का रेखांकन भी
इस घन-तम में लुप्त हुआ है,
मानव का रवि अस्त हुआ है
जग सब संकट-ग्रस्त हुआ है;
चित्-नभ अस्त-व्यस्त हुआ है;
मम मानव संत्रस्त हुआ है।

सदियों का अज्ञान भयंकर,
यहाँ आज खुल खेल रहा है,
एक नाशकारी प्रमाद यह,
जन-समाज में फैल रहा है,
शतमुख पतन ढकेल रहा है
मानव को पाताल अतल में,
चला जा रहा है द्रुत गति से
मानव नीचे को पल-पल में,
ऊर्ध्व पाद, विभ्रान्त, अधोशिर
परवश, विकल, अधोदिशिगामी,
स्थान-भ्रष्ट हो चला अतल को
निपट जन्तु यह मानव नामी !

सत्य लोक में सदा प्रतिष्ठित
है इस मानव का सिंहासन,
पर, अब यों लगता है मानो
रिक्त पड़ा है वह उच्चासन,
मानो अपने ही से उसने
किया वहाँ से निज निष्कासन,
अपने ही से, मानो, त्यागा
इसने अपना वह सत्-शासन !
अब निरखो इस पतित, अधोमुख
मानव को यों नीचे जाते,
देखो तो इस स्ववश विवश को
बरबस नीचे खींचे जाते।

आज सप्त पातालों का सब
कर्षण इसको खींच रहा है,
नीचे गिरता हुआ मनुज यह
खोल-खोल दृग मींच रहा है,
सत्यलोक से हुआ भ्रष्ट यह,
सन-सन करता नीचे आया,
तपः, जनः औ' महः, स्वः, भुवः
से गिरकर भू पर टकराया !
अतल, वितल, औ' सुतल, रसातल,
गहन तलातल, गहर महातल
औ' पाताल लोक लौं गिरता
जा पहुँचा यह मानव विह्वल !

ऊपर, जहाँ सभी सेवक थे
चन्द्र, सूर्य, तारागण, इसके,–
पूछ रहे हैं, कि ये महाशय
ऊपर से नीचे क्यों खिसके ?
बोल, मनुज, तू ही दे उत्तर,
क्यों आयी वह घड़ी पतन की ?
अरे, समस्या यह तू सुलझा,
खोल गाँठ तू अपने मन की !
ऊपर से नीचे क्यों आया ?
कितना और गिरेगा नीचे ?
चौदह भुवनों के कण - कण में
तूने क्यों निज श्रम-कण सींचे ?

इस नभ - गंगा के भी ऊपर,
उन तारक वृन्दों के ऊपर,
देश काल के परे, अरे, था
वह सत्-चित्-सुन्दर तेरा घर !!
जब तू गिरा वहाँ से नीचे
करता सन-सन-सन-सन-सन-सन;
तब अचरज से लगे निरखने
तुझको ये असंख्य तारागण !
अरे, कभी था तव चरणों के
नीचे यह दिक्-काल-कमण्डल !!
यह ब्रह्माण्ड विसर्ग महत्तम,
यह अनन्त-सा सकल खमण्डल !!

तू गिरा कि तव पतन-वेग से
ये दिक् - काल झुके बरबस - से,
तू गिरा कि ब्रह्माण्ड सभी ये
सहसा नाच उठे परवश - से,
तू क्या गिरा कि देश - काल की
गूँज उठी सिरजन - शहनाई;
तू क्या गिरा कि रस विसृष्टि में
एक अजब रंगीनी आयी;
मानो, मनुज - पतन ही से इस
सिरजन का यह फूल खिला है;
मानो, उसी पतन - क्षण से ही
सकल सृजन का सूत्र हिला है !

सत्य लोक से गिरा शून्य में
यह मानव विभ्रान्त, क्षुब्ध मन,
ऐसे सूने में कि जहाँ पर
फैला है दुर्दान्त तिमिर घन;
सर - सर करता यह नीचे ही
गिरता गया तिमिर में क्षण-क्षण,
गिरता रहा अयुत कल्पों तक,
किन्तु न मिला एक ज्योतिष्कण,
फैली थी शून्यता सभी दिशि,
दायें, बायें नीचे ऊपर,
अन्त हीन-सा फैल रहा था
उस नभ में तम - तोम भयंकर

यों यह सत्य-लोक से गिर कर
तपर्लोक में आ टकराया, —
जहाँ प्रदीप्त वाष्प-पिण्डों की
इसने देखी जग - मग माया;
एक - एक उस वाष्प - पिण्ड में
कोटि - कोटि थे सूर्य प्रभाकर;
ऐसे कोटि - कोटि पिण्डों की
फैल रही थी विभा अमाहर !
जहाँ अर्ब - खर्बों की गणना
रह जाती है सकुच - सकुच कर,
ऐसे तपर्लोक से भी तो
गिरता गया मनुज यह सत्वर ।

कोटि युगों तक गिरते-गिरते
मनुज निरखता रहा दिवाली,
शत-शत लक्ष वाष्प-पिण्डों की
उसने देखी ज्योति निराली;
मानव गिरता था नीचे को,
बाष्प-पिण्ड उठते थे ऊपर;
उसके दायें-बायें वे सब,
ऊँचे को जाते थे सर-सर !
और गिरा जब, तब आ पहुँचा,
कुछ झुटपुटे अँधेरे में वह;
मानो, तपर्लोक में ज्योतित
कोट कँगूरे सभी गये ढह !

और गिरा, तब वह आ पहुँचा,
जनर्लोक के गगनांगन में;
कोटि-रश्मि-वत्सर-महदन्तर
फैल रहा है जिस प्रांगण में !
जहाँ विचरते हैं वे रवि जो,
हैं शत सूर्यों से भी गुरुतर,
जिनकी आभा फैल रही है,
उस अम्बर में छहर-छहर कर,
इस अम्बर में भूत-द्रव्य सब,
व्यष्टि रूप बनकर आया है,
इसीलिए विस्तार अमित यह,
जनर्लोक ही कहलाया है !

दूर-दूर, हाँ, दूर-दूर अति,
लक्ष-लक्ष रवि नाच रहे हैं;
क्या जाने किसके कहने से,
ये नट-कछनी काछ रहे हैं;
इनकी लीला लखता-लखता,
मानव होता रहा पतित नित,
ये लीलाएँ मनुज बिचारा,
समझ न सका रंच भी समुचित;
जनर्लोक से गिरकर मानव,
महर्लोक में अटका आकर,
मानो उसके कृति-विपाक ने,
उसे वहाँ पर पटका लाकर !

अतुलित आभा महर्लोक की,
अर्ब-खर्व रविगण के दो दल,
जहाँ अश्व-सम खींच रहे हैं,
मानो किसी सुरथ को पल-पल,
उस स्यन्दन का अलख सारथी !
देखो कौन ? कौन पहचाने ?
एक धुरी में जुते हयों की,
महिमा कोई कैसे जाने ?
कोटि-कोटि सूर्यों का मिलकर,
एक-एक रथ-अश्व बना है !
रथ-चालक का पता नहीं है
अजब ठाट उसका अपना है !!

मानव ने देखी द्रुत गति युत,
इन अश्वों की ऊर्ध्व-गमन-रति,
मानव ने निज गति अवलोकी,
देखी अपनी अधःपतन-मति !
रंग-विरंगी आभावाले,
चढ़ते देखे उसने रवि - गण;
दो समूह में, ये समगति हय,
उसने बढ़ते देखे क्षण - क्षण;
दोनों धुरी सज्ज अश्वों के,
अभ्यन्तर - अवकाश - गगन से,
खिंचता गया निम्न दिशि मानव,
किसी अनोखे आकर्षण से !

महर्लोक भी ऊपर छूटा,
फिर शून्यता तमोमय आयी;
ऐसा तम था वहाँ कि जिसमें
कहीं-कहीं थी ज्योति निकाई;
धूप-छाँह में यों यह मानव
नीचे गिरा कई कल्पों तक,
तब उसने स्वर्लोक - छटाएँ,
ऊपर आती देखीं अपलक;
विह्वल-सा, आतुर-सा, मानव,
आन गिरा स्वर्लोक - भुवन में;
जहाँ तरंगवती स्वर्गंगा
लहर रही थी नील गगन में !

महाकाश गंगा बहती है;
जहाँ दीप्त हैं अगणित तारे,
वे तारे, जिनकी समता में,
सहस-सहस रविगण भी हारे;
जहाँ एक थल से दूजे तक
ज्योति पहुँचती मन्वन्तर में;
ज्योति वही कि सहस्रों योजन
जिसकी गति है इक पल-भर में;
स्वर्गंगा की उच्छल लहरें
जहाँ धूलि करती हैं सिंचित;
ऐसे विशद-लोक में भी यह
मानव थिर न रह सका किंचित् !

गिरा वहाँ से भी वह मानव,
भुवर्लोक में आ टकराया,
वहाँ सूर्य के विविध ग्रहों में
विचर-विचर वह अति अकुलाया;
मंगल, बुध, शनि सब में भटका,
चन्द्रलोक में आया गिरकर;
किन्तु न मिली एक क्षण को भी
उनको मन-प्रसन्नता तिल-भर;
गिरकर तब, भूलोक-भवन में
आ अटका यह मानव प्राणी,
तब उसको यों लगा कि मानो,
उसे मिली शुभ गति कल्याणी !

लेकिन इस धरती पर भी तो
हुए अमित अविचार मनुज के;
होते रहे कुकर्म यहाँ पर
युग-युग लौं इस द्विपद, द्वि-भुज के;
धरा धसककर आज चली है
बरबस-सी पाताल अतल में,
सत्यलोक से भ्रष्ट मनुज ही
धँसा रहा है भू पल-पल में;
अतल, वितल, औ' सुतल, रसातल,
गहन तलातल, गहर महातल,
औ' पाताल, सभी का सिरजन
यहाँ कर रहा है यह पागल !

अरे दिव्य आदर्श, हो रहे
अन्धे-से मेरे सब जग जन;
स्वयं बुझाकर अपने दीपक,
स्वयं बुला लाये हैं तम-घन;
एक पाँत मेरे मनुजों की,
आज विभक्त हुई है शतधा;
इस धरती पर मँडराती है
तेरे-मेरे की यह विपदा;
आज देखता हूँ कि मनुज ये
अपनी इस माता धरणी को—
काट रहे हैं; औ' कहते हैं :
बाँटेंगे हम इस अवनी को !

देख रहा हूँ कि ये मनुज मम
सहसा भूले हैं अपने को;
विचर रहे हैं नयनों में भर
भेद - भावना के सपने को;
सदियों के ये पाड़-पड़ोसी,
सदियों के ये मीत-सँगाती,
ये अपने ही रक्त-मांस सब
ये देहाती, ये शहराती—
बोल उठे इनमें से कुछ यों :
एक कहाँ ? हम अलग-अलग हैं !
क्योंकि हमारे और तुम्हारे
सन्तत भिन्न-भिन्न मारग हैं !!

यों लगता है मानो अपनी
यह वसुधा हो गयी परायी,
इक-दूजे को भूल गये हैं
मानो दोनों भाई - भाई;
इस धरती के दोनों बेटे
भूले अपनी धरती - माई;
ये अब भूले हैं कि इन्होंने
सँग-सँग इसकी मिट्टी खायी;
कितना दूध मिला है इनको
इस वृद्धा हिम-गिरि-लाता से,
कितना प्यार, दुलार, मिला है
इनको इस धरती माता से !!

हुआ आज सद्भाव तिरोहित,
मुखरित भेद-भावना जागी,
अधः पतित होकर के सहसा
मानव ने मानवता त्यागी;
क्यों न आज आशाएँ मेरी
जलकर क्षार-क्षार हो जायें ?
क्यों न आज भावी के सपने
मेरे हृदय - भार हो आयें ?
मेरे हिय में आज निराशा,
नागिन बन फुंकार रही है !
मम-गति-पथ में अगति-सिंहनी
मँडराती हुंकार रही है !!

दशों दिशाएँ घन तम मय हैं;
अँधियारा है मम अम्बर में—
बुझे-बुझे लगते हैं दीपक,
अन्धकार है जन-अन्तर में;
आज अँधेरे ने बढ़-चढ़कर
मुक्ति मार्ग आक्रान्त किया है;
उठ-उठ शत-शत सन्देहों ने
जन-गण-मन उद्भ्रान्त किया है;
आज स्वतन्त्र भावना जन की
रुद्ध हुई, हत बुद्धि हुई है;
निरलस कर्म-प्रेरणा मानो
सहसा आज अशुद्ध हुई है !

किन्तु मिला है शुद्ध ज्ञान का
जो वरदान मनुज-जीवन में,
उसका है आदेश ! न आये
आशंका यात्री के मन में,
मानव पतित हुआ है यदि तो,
निज वैभव प्रकटाने को ही,
आज खो गया है मानव यदि,
तो वह निज को पाने को ही !!
इस उद्भ्रान्त मनुज में अब भी
सत्य-धारणा की क्षमता है;
तम में है यह; किन्तु हृदय में
इसके चिर प्रकाश-गमता है !

तुम मत बुझने दो निज दीपक,
यह दुर्दम तम - तोम हटेगा,
मत निराश हो; ओ जन मेरे,
यह आवृत घन-पुंज फटेगा !
मत होने दो निज पग डग-मग
यदपि थकित हो नस-नस, रग-रग,
सन्तत गतिमय है जब सब जग,
तब तुम क्यों छोड़ो अपना मग !
कम्पित कर से दीप सँभालो,
मत निरखो निज पग के छाले !
हारी-थकी अस्थियाँ लेकर,
बढ़ते जाओ, ओ धुनवाले !!!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१९ मार्च, १९४४

■

अर्ध नारी नट

नर-तन धरके भी पाया है तुमने नारी हृदय, सखे !
क्यों इतने सकरुण, कोमल हो, क्यों हो इतने सदय, सखे ?
इस चौड़ी बलिष्ठ छाती में छुपा रखा है ऐसा हिय !
अरे, तनिक तो पत्थर होते, होते तुम कुछ अदय, सखे !

इसी तुम्हारी छलक ललकती वत्सलता दीवानी ने,—
इसी इतर-दुख-कातरता ने, इस विगलित नादानी ने,—
हाट-बाट में, गली-गली में, तुम्हें ख़ूब बदनाम किया,
क्या ही अजब तुम्हें समझा है इस जग जड़-विज्ञानी ने।

भ्रान्त धारणा भरी हुई है जग-जीवन की थाली में,
कहीं स्पष्ट-दर्शन होते हैं लौकिकता-अँधियाली में ?
यों करुणा भरना आँखों में यहाँ मना है, ओ भोले,
हृदय-कचौटन भी वर्जित है लोकाचार-प्रणाली में।

नारी-हियवाले ओ तुम नर, कुछ नर-पशु का रूप धरो,
अपने वत्सल, कोमल, विगलित, मृदुल, हृदय से रंच डरो,
इस गणितज्ञ जगत् में तो नित एक+एक दो होते हैं,
यहाँ भूल से भी, सुविभाजित दो को एक कभी न करो।

पर तुम लौकिक उपचारों के बन्धन में कब बँधे रहे ?
तुम तो सदा, सदा अपनी ही अचल धुरी पर सधे रहे,
आज तुम्हारे नारी-हिय को जगत् चुनौती देता है,
देखें तुम कैसे सहते हो वचन-वाण वे बिना कहे।

याँ चर्चा है, सखे, तुम्हारे कोमल प्रबल असंयम का,
याँ चर्चा है आज तुम्हारे मस्ताने से अनियम का,
अति बैराग-जोग के साधक, जगत् उजागर तुम कब थे ?
जग तो परिचय देता ही है अपने हिय के सम्भ्रम का।

तनिक स्नेह से गद्गद होना, तनिक बलाएँ ले लेना,
तनिक किसी के अश्रु पोंछना, तनिक सहारा दे देना,–
ये वातें जग की आँखों में मतलब भरी कहाती हैं,
उफ़् ! जग के पड़ाव में है याँ किनकी मति-विभ्रम-सेना !

मतलब ? हाँ, तुम नर के नारी हिय में भी तो है मतलब,
बिना नेह निर्वाह तुम्हारे जी में कल परती है कब ?
अपनी तड़पन कम करने को, सखे, ललकते फिरते हो,
इसी लिए क्या जग कहता है, कि तुम मतलबी ही बेढब ?

पर···पर यह जग तो अन्धा है, नहीं देखता भेद ज़रा,
नहीं देख पाता यह नर के नारी हिय का खेद ज़रा;
शुद्ध तत्त्व-दर्शन का जग में रंच मात्र सामर्थ्य नहीं,
इसी लिए तो नहीं पा सका जग अब तक निर्वेद ज़रा

वह नर तो वानर है जिसमें नारीपन का अंश नहीं,
वह है उपल, नहीं हिय, जिसमें सह-अनुभव का दंश नहीं;
पर-विपदा में यदि ये लोचन छलक-छलक भर आयें ना,
तो फिर समझो कि बस हो चुका मनुष्यत्व का भ्रंश यहीं

सखे, नरोत्तम है वह जिसमें नर - नारी का हो मिश्रण,
जिसको सर्व-भूत-हित-रति में हो नारी हिय का कम्पन;
जिसकी आँखों में जग देखे, माता की छबि का अंकन,
ऐसे ही नरवर भरते हैं जग का स्रवित वेदना-व्रण

विकसित पूर्ण पुरुष वह, जिसमें हो नारीपन की झाईं,
जो जग - जन की हृदय - वेदना समझे नारी की नाईं;
प्रति विकसित नर में झलके है नारीपन का अंश सदा,
उसी तरह ज्यों विभु में बिम्बित प्रकृति-बधू की परछाईं

नर में नारी का न चिह्न तो मानव प्रेम-धर्म क्या है ?
यदि नारीपन हो न पुरुष में तो नर को नर क्यों चाहे ?
मानवता के इस विकास की यह भी एक पहेली है,
मिश्रित एक व्यक्ति में होते नारी - नर गाहे गाहे ।

नर - नारी दोनों में दोनों झलक उठें जब बरबस-से,
तभी समझिए कि यह हुआ है हृदय प्रपूर्ण एक रस से,
नर नारी हो, नारी नर हो, यही सुगति है जीवन की,
तभी विश्व-वेदना-भाव से हृदय खिचेंगे पर-वश-से ।

है अवश्य ही नर-नारी के भिन्नरूप का भेद यहाँ,
पर, अक्षर, अव्यक्त आदि में नर-नारी का भेद कहाँ ?
आदि अन्त तो भेद-रहित है, केवल मध्य भेद-मय है।
इसी लिए है मध्य-काल में, भेद-खेद का स्वेद यहाँ।

सखे, सुनो, श्री नारायण है स्वयं अर्द्धनारी नटराज,
और अर्द्धनर नटीश्वरी है परा प्रकृति इस जग में आज,
भेद-खेद के गहन स्वेद के परे पहुँचना है सबको,
जिस छिन यह होवेगा उस छिन होगा जीवन्मुक्त समाज।

यदि तुम प्रतिबिम्बित करते हो नारी-हिय की कसक, सखे,
अगर तुम्हें तड़पा देती है निराश्रिता की सिसक, सखे,
तो तुम तड़पो और बढ़ाओ अपने वत्सल हस्त, सखे,
जग, जग को तुम दिखलाने दो नीति-धरम की उसक, सखे,

अपने हाथ बढ़ाकर, जिस छिन, उत्सुक प्रीति लजाती-सी,
दृग् में भर, आत्मार्पण निधियाँ, ललक-भरी, अलसाती-सी,
जब आ जावे, अहो तुम्हारे सम्मुख प्यार-पगी-सी यों—
तब क्या न्यौछावर न करोगे निज हिय-निधि अकुलाती-सी ?

■

प्रलयंकर

युगीन चेतना को स्वर देती राष्ट्रीय
कविताओं का संग्रह

अदृष्ट चरण-वन्दना

वन्दन कर लूँ आज तुम्हारे अडिग अकम्पित उन चरणों में,
जिनकी महिमा रही अगीता जन-साहित्यिक अधिकरणों में !

तुम अज्ञात नाम जन सेवक, तुम सैनिक, तुम धीर, वीरवर,
तुमने नव सन्देश-श्रवण की क्षमता दिखलाई साहस कर;
चरण तुम्हारे चले अशंकित, अति सत्वर अनजाने पथ पर,

मानव प्रगति हुई प्रतिलक्षित तव चरणों के आचरणों में;
वन्दन कर लूँ आज तुम्हारे अडिग अकम्पित उन चरणों में !

चरण तुम्हारे वे कि जिन्होंने दुर्गम शैल किये अतिलंघित,
जिनकी निर्भय अच्युतता ने किये अनेक हृदय निस्पन्दित;
जो नवीन निर्दिष्ट मार्ग पर मुदित बढ़ चले निपट अशंकित;

वे दृढ़ चरण छिप गये हैं जो सहज विस्मरण - आवरणों में;
वन्दन कर लूँ आज तुम्हारे अडिग अकम्पित उन चरणों में !

वे तव शतशः चरण कर गये अभिनव जन-यात्रा-पथ निर्मित;
तुम वे सैनिक जो आज्ञा पर समुद कर गये प्राण सर्मापित;
आज तुम्हारे तप-प्रसाद से हैं भारत जन-गण-हिय हर्षित;

तव शोणित कण अब पुष्पित हैं नव यत्नों के अवतरणों में;
वन्दन कर लूँ आज तुम्हारे अडिग अकम्पित उन चरणों में !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२६ जुलाई, १९५४

■

भरत-खण्ड के तुम हे जन-गण !

भरत - खण्ड के तुम, हे जन - गण
चमक रहे हैं तव शोणित में इस भारत माता के रज - कण,
भरत - खण्ड के तुम हे जन - गण !

अहंकार, मस्तिष्क, बुद्धि, मन, यह भव-रूप और अभ्यन्तर, –
कला, काव्य, इतिहास पुरातन, ललित कलित कोमल गायन-स्वर, –
तत्त्व-लक्ष्य, एकान्त साधना, दर्शन, चिन्तन, मनन निरन्तर, –

यह प्रपूर्ण सम्पत्ति तुम्हारी है भारत की माटी का धन;
भरत - खण्ड के तुम हे जन - गण !

आमन्त्रण यह तुम्हें है कि इस माटी का शृंगार करो तुम;
आवाहन है तुम्हें कि अपनी जननी का भण्डार भरो तुम;
युग कहता है कि इस भूमि का यह दरिद्रता - भार हरो तुम, –

स्नायु - तन्तु - सारंगी में हो सह-श्रम वृन्द-वाद्य की झन-झन;
भरत - खण्ड के तुम हे जन - गण !

एक धाम तुम, एक नाम तुम, एक बान तुम, एक प्राण हे तुम;
एक रागमय, इक यति-गतिमय, सर्व-उदय के गेय-गान हे तुम;
श्रेय-प्रेय-साधना पूर्ण तुम, मानवता के नव विहान हे तुम,

स्वेदोदक का अर्घ्य चढ़ाकर करो प्रात का सन्ध्या-वन्दन;
भरत - खण्ड के तुम हे जन - गण !

५ विण्ड्सर प्लेस, नयी दिल्ली
१८ फ़रवरी, १९५५

■

गरजे मेरे सागर पहाड़

गरजे मेरे सागर, पहाड़
सिंहों की-सी करके दहाड़ !

मेरे सागर गम्भीर गहन,
करते हैं जो बड़वाग्नि वहन,
कहते हैं : मानव, जाग-जाग,
सुलगा दे ज्वाला सर्व दहन
बाधाओं को जड़ से उखाड़
सिंहों की-सी करके दहाड़ ।

मेरे ऊँचे-ऊँचे भूधर,—
गर्जन करते हैं हर-हर-हर;
बोले : मानव तू क्यों उदास ?
तू भी गर्जन कर हहर-हहर !
इस लौह भीम को दे पछाड़
सिंहों की-सी करके दहाड़ !

मेरे सरवर, मेरी सरिता,
चिर स्नेहमयी, पुण्याचरिता,
कल-कल-कल स्वर भर बोल उठी,
यह अमल नवल जीवन - भरिता;
रे मनुज, खोल अपने किवाड़
सिंहों की-सी करके दहाड़ !

मेरी आँधी, मम मलय पवन,–
छू - छूकर मेरे युगल श्रवण,–
हैं पूछ रहे मुझसे क्षण - क्षण,
क्यों हुए भग्न तव सुखद भवन ?
किसने यह घर डाला उजाड़,
सिंहों की - सी करके दहाड़ ?

मेरी धरती हिल डोल उठी,
निर्गति में गति - रस घोल उठी,
अन्तस्तल में कल्लोल उठी,
धरती माता यों बोल उठी :
सुन रे, कड़के मम वृद्ध हाड़ !
सिंहों की - सी करके दहाड़ !

मानव, क्या तू न सुनेगा यह,–
युग - वाणी का गर्जन अह - रह ?
यह सर्व - नाश - सन्देश अभय,
यह निर्वाणाह्वाहन दुर्वह;
तू बन विजयी, जय - ध्वजा गाड़
सिंहों की - सी करके दहाड़ !

यह शताब्दियों का पाप महा,
एकत्रित है बेमाप यहाँ,
इसको तू खोद बहा दे, रे,
तेरा जो यह अभिशाप महा;
सब परिपाटी का वक्ष फाड़;
सिंहों की - सी करके दहाड़ !

तेरा स्वरूप, जो अति अनूप
वह बिगड़ बना है अति कुरूप;
तू अपना स्वामी स्वयं, अरे,
तेरा कोई भी नहीं भूप !
अन्तस्तल की ज्वाला उभाड़
सिंहों की-सी करके दहाड़ ।

दुर्दम रण-चण्डी चेत उठे
कर महा प्रलय संकेत उठे !
सर्वस्व-नाश का रुद्र रूप
नव-नव निर्माण समेत उठे;
आये विनाश की एक बाढ़,
सिंहों की-सी करके दहाड़ ।

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
२२ अप्रैल, १९४३

तू विद्रोह रूप, प्रलयंकर !

अरे, अरे, ओ निपट निराशा की श्वासें भरनेवाले,
अरे पराजित, अरे पराजयवादी, ओ मरनेवाले,
ओ शंकित चितवनवाले, ओ आत्म-रूप-विस्मृतिवाले,
ओ विजयेच्छुक, ओ गमनोत्सुक, ओ निदाघ-संस्कृतिवाले,
दूर पार से आज आ रही अनल-गान की तान नयी,
आज वायु में निष्पन्दन है, कण-कण में है जान नयी !

तू नाशक ध्वनियों का गायक, तू विकराल क्रान्ति द्रष्टा,
तू विद्रोह रूप प्रलयंकर, तू है अनल-राग-सृष्टा;
तेरे प्राणों में तड़पन है, नीच भावना अब कैसी ?
यह विश्वासघात अब कैसा ? दुष्कृतियाँ क्यों, अब ऐसी ?
कर दे क्षार-क्षार अपनी इन प्राण मोहिनी कृतियों को,
खण्ड-खण्ड कर दे, रे मोही, निज निर्बल संस्मृतियों को !

ओ बरसों से शिथिल पाश में जकड़े रहने वाले, तू,
आत्म-दीनता की दाहकता में नित दहने वाले तू,
ध्रुव-विश्वासान्तर्ज्वाला से भर दे अन्तरिक्ष जल, थल,
आज अनल-ताण्डव होने दे मच जाने दे तू हलचल;
तत्त्व निखर आये, असत्य यह होवे भस्मीभूत सभी,
अग्नि-परीक्षा-विधि पूरी हो, जग हो पावक-पूत अभी !

ध्वंस-कार्य यह अभी-अभी ही शुरू हुआ है ज़रा-ज़रा;
गत प्रणालियों का वन-उपवन अभी बना है हरा-भरा;
तुझे इसे उन्मूलित करना है, करना है क्षार, सखे,
तुझे मेटना है जगती के तल से सब अविचार, सखे,
अनल गीत गा उठ तू निर्भय, घिर आये ज्वलन्त ज्वाला;
तू पहिना दे जग-ग्रीवा में, यह अंगारों की माला !

शोलों के फूलों से सज्जित सुख-शय्या हो जाने दे,
भर ले अंगारे करवट में, हूक-लूक उठ आने दे;
अरे, अकर्मण्यता शिथिलता भस्मसात हो जाने दे;
अग्नि-चिता में विजित भाव को तू अब तो सो जाने दे;
त्राहि ? त्राहि ? रे, त्राण कौन-सा ? आज प्राण की होली है ?
तेरी दाहक स्वर-लपटों में स्वयं त्राण की होली है !!

■

गरल पियो तुम ! गरल पियो तुम !!

आज रुद्र ललकार रहे हैं : अमृत पुत्र, लो, गरल पियो तुम,
आज अमर बेला आयी है, गरल पियो, चिरकाल जियो तुम;
ओ तुम चिर जीवन के प्यासे, सुन लो यह भैरव आवाहन;
हिम गिरिवर के तुंग शृंग से गूँज रहा है घण्टा घन-घन !
प्रलयंकर शंकर बैठे हैं खोले वरदानों की झोली;
जागो, ग्रहण करो वर उनका, बढ़े चलो टोली की टोली।

हहर हहर हर शिखर-शिखर से गरज उठे हैं आज पिनाकी,
आमन्त्रण है आज सभी को, अब क्या चिन्ता भव-बाधा की ?
हिम-आच्छादित शिला-खण्ड सब प्रतिध्वनित हैं उनके स्वर से,
भूधर के सब पार्श्व-देश भी अनुकम्पित हैं स्वर हर-हर से !
हर-हर करती गहर सुरधुनी, ले आयी सन्देश सर्व-हर;
रे, गरजे हैं आज महेश्वर, काँप रहे हैं गिरिगण, गह्वर !

जगती का कण-कण कम्पित है सुन यह महानाश की वाणी,
भारत के रज-कण काँपे हैं सुन-सुन यह वाणी कल्याणी;
आज महाकालेश्वर का ही प्रतिनिधि एक यहाँ आया है;
जिसकी छाया परम अमृत है ! महामरण जिसकी माया है !
अटल हिमाचल से कुमारिका कन्या तक विस्तृत जन-पद में
हैं उसका सन्देश प्रचारित, प्रति गिरि में, गह्वर में, नद में !

देखें कौन वीर सुनता है गरलपान के इस गर्जन को;
नीलकण्ठ के भव-भय-हारी चिर मंगलकर इस तर्जन को,
चिर जीवन के औघड़दानी आज दे रहे मरण - सँदेसा,
सर्व प्राप्ति के इच्छुक हो तो ग्रहण करो यह हरण-सँदेसा !

सुनो: बजा डिम-डिम-डिम डमरू; बोला निपट दिगम्बर, गाँधी:
अरे मरण भी जीवनक्रम है! कैसा प्रलय? कहाँ की आँधी?

आज वही सागर-मन्थन है जो होता है कालान्तर में,
आज वही भीषण घर्षण है, कर्षण है जग के प्रान्तर में!
जन-उद्यम का मेरु-गिरीश्वर: मन्थन-दण्ड बना बलशाली;
भोग-भाव के शेषनाग की मन्थन-रज्जु बनी विकराली;
यह अथाह, अज्ञात तत्त्व का अतल महार्णव लहर रहा है।
मथित व्यथित उसका अन्तस्तल उफ़न रहा है, घहर रहा है!

•

जगती के जनगण, अवलोको यह विकराल महार्णव-मन्थन;
घूर्णित मन्थन-दण्ड निहारो, जिसकी गति का रंच न स्तम्भन;
यह फेनिल आडोलन देखो, निरखो यह प्रशान्त का विप्लव!
कितनी त्वरित चलित है देखो मन्थन-रज्जु विडोलित, विक्लव!
इस विकराल फणीन्द्र-रज्जु के रन्ध्र-रन्ध्र से बहा हलाहल,
जिससे दग्ध हुआ-सा लगता मन्दर-मेरुदण्ड यह पल-पल

देखो इस अथाह जलनिधि के गहन, गभीर, अतल से तल में—
क्या-क्या उद्वेलनमय बुद्-बुद आ उठते हैं इस खल-भल में!
तुम तो अमृत चाहते थे इस सपरिश्रम समुद्र-मन्थन से;
किन्तु हलाहल ही निकला है भोग-विलास-रज्जु-बन्धन से!
तुमने उद्यम मेरु-मथानी चालित की है भोग-पाश से
तब कैसे बच पाओगे इस शेषनाग के विष-विलास से?

लो निकला यह गरल हलाहल, पर तुम मत भागो! मत भागो!
निज उद्बोधन करो! कहो: हे नीलकण्ठ, जागो! अब जागो!!
अरे निहारो समाधिस्थ है विषपायी शंकर अन्तर में;
बम् भोले! बम् भोले!! बोलो, जाग उठेंगे क्षण-भर में;

सुनो, तुम्हीं को पीना होगा अपनी कृति का विषम हलाहल
आज स्ववश करनी ही होगी भीति-भावना की यह हलचल !

अवाप्तव्य अनवाप्त ध्येय के इस अज्ञात अतल का मन्थन,–
तुमने किया; किन्तु फैलाया जग में कैसा भीषण क्रन्दन !
हाहाकार भरा दिशि-दिशि में, नभ रक्ताक्त अश्रु रोता है;
लोहित सब दिङ्मूल हुआ है; रणचण्डी नर्तन होता है;
अन्तरिक्ष से अग्नि-अँगारे बरसाते हो तुम ओ जग-जन,
कहाँ तुम्हारी अमृत-साधना ? कहाँ तुम्हारा यह उत्पीड़न ?

क्या यों ही अज्ञात तत्त्व का अम्बुधि अवगाहन होता है ?
अरे, इस तरह तो मानव-हिय अनपावन पाहन होता है !
निःसन्देह तुम्हारा उद्यम-मन्दर चक्रित चलित हुआ है,
निःसन्देह तुम्हारा सागर - मन्थन कुछ-कुछ फलित हुआ है,
पर, देखो, तव मन्थ-रज्जु से – जो है भोग - विलासी बन्धन,
निकला है यह गरल हलाहल जीवन-भंजन, प्राण-निकन्दन ।

इस दानवी क्रोध, हिंसा का गरल हलाहल कौन पियेगा ?
कौन आज निज को मारेगा ! अरे, कौन चिरकाल जियेगा ?
ओ तुम मानव, ओ मनु-वंशज, तुम्हीं करोगे पान हलाहल !
गगन-विहारी तुम्हीं बनोगे, जो कि धँसे हो आज तलातल !!
मानव हो तो फिर उपमानव, दानव क्यों बनते जाते हो ?
अपनी ही कृति के दल-दल में क्यों फँसते, सनते जाते हो ?

नर हो तो क्यों भूल रहे हो कि तुम शुद्ध नारायण छवि हो ?
यदि लव हो तो अग्नि-पुंज हो, एक किरण हो तो तुम रवि हो !
आओ तो निर्लिप्त भाव से निज विकार अन्तर में धारो;
यदि न कर सके इतना भी तो सर्वनाश है, ज़रा विचारो !

इतनी यह विज्ञान-सम्पदा, इतना यह बल-वुद्धि पराक्रम,—
भस्मसात् होवेगा क्षण में, त्यागो अपने मन का सम्भ्रम !

कहता जा, रे परम तपस्वी, रे अति मानव अरे दिगम्बर !
लख विनाश उन्मुख मानवता, कहता जा तू, रे विश्वम्भर,
यह सन्देश - धारण का यह शंखध्वनि नवल, सनातन,—
अरे कदाचित् सुन न सकेंगे निपट अल्प विश्वासी हम जन !
किन्तु अरे तू तो कहता जा, देता चल सन्देश सुहावन,
इसी तरह मानवता का मन, शायद हो जाये कुछ पावन !

तुझ-जैसा पथ - दर्शक पाकर, यह मानवता धन्य हुई है,
नर में नारायण की झाँको यहाँ विशेष अनन्य हुई है;
जग ने देखा कि हाँ गुहा का वह मानव-पशु गुप्त हुआ है,
तुझमें देखा कि वह हिंस्र-नर जाने किधर विलुप्त हुआ है;

ओ करुणाकर मेरे बापू, जियो जियो, शत वर्ष जियो तुम !
मानवता के अर्थ, शम्भु हे, गरल पियो तुम! गरल पियो तुम!!

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
१ अक्टूबर, १९४२

■

पथ-निरीक्षण

सुन लो ओ नवीन दीवाने, सुन लो मेरी बात ज़रा,—
अरे, रही है विजय जगत् में सदा काल से स्वयंवरा;
जिसके गट्टे में ताक़त है, है उसकी ही वसुन्धरा;
देकर सीस, असीस मिले हैं यही विश्व की परम्परा;
विजय और वसुधा ये दोनों बड़े बाप की बेटी हैं;
कापुरुषों की नहीं, सदा ये बलवानों की चेटी हैं।

वरण करोगे विजय ? बनोगे जग में क्या तुम धरणीधर ?
तो सीखो कैसे देते हैं जन शोणित अंजलि - भर - भर ?
विजय वरण करने निकले हो, पग धरते हो यूँ डर - डर ?
कायर ! समझाया कि चले हो तुम अपनी खाला के घर ?
खबरदार ! पीछे मत देखो, लानत है गर तुम झिझको,
क्या है मोल तुच्छ जीवन का, अरे खपा दो तुम निज को !

विजय ? न सोचो कि वह मिलेगी, कब, किस दिन, किस घड़ी, अरे,
विजय नहीं कंकड़ी मिले जो यों ही पथ में पड़ी अरे ?
पहले कुछ चुकते तो कर दो साँचे - चोखे दाम अरे,
भीरु चाहते हैं कि मिले वह विजय बिना कुछ भेंट धरे,
तुम हो अग्निकुमार अरे ओ युवक धुनी, ओ मतवाले,
इस स्वातन्त्र्य-चण्डिका को दो भर निज शोणित के प्याले।

जब जग विचलित होता दीखे, जब सब छोड़ें संग अहो,
जब दुनिया - दारों की होवे धीमी हृदय - उमंग अहो,
जब कि पड़े जय-जय की ध्वनि का कुछ-कुछ फीका रंग अहो,
तब तुम, अरे युवक, मत डोलो, पथ पर डटे अभंग रहो,
निरुत्साह की, तिरस्कार की यदि तुमको भावना मिले,
तो उसको, हे अटल हिमाचल, सह जाओ तुम बिना हिले।

तुमको करना है पुरखों के सब पापों का प्रक्षालन,
तुम्हें तोड़ना है सदियों की विकट शृंखला का बन्धन,
है बलि-वेदी, सखे, प्रज्वलित माँग रही ईंधन क्षण-क्षण,
आओ युवक, लगा दो तो तुम अपने यौवन का ईंधन,
भस्मसात् हो जाने दो ये प्रबल उमंगें जीवन की,
अरे सुलगने दो बलि-वेदी, चढ़ने दो बलि यौवन की।

आज अग्नि-ताण्डव होने दो, लप - लपटें लहराने दो,
रंजित अग्नि - शिखा उठने द्रो, अम्बर लौं हहराने दो,
निज ध्वंसावशेष दुर्गों में विजय ध्वजा फहराने दो,
एक बार फिर से जय-जय की विजय गूँज घहराने दो;
हारी थकी अस्थियाँ लेकर करते जाओ कूच सखे,
पथ जैसा है वैसा ही है निरखो नीच न ऊँच सखे !

डिस्ट्रिक्ट जेल, अलीगढ़
२१ जनवरी, १९३४

■

भैरव नटनागर

अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !
ओ जगती की पुण्य गन्ध तू, आ गान्धी जीवन-भय हर, हर;
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !
चार बरस तक अनहद डमरू खूब बजाया, ओ बम् भोले,
नाच उठा सब जगत् देखकर तेरा वह ताण्डव प्रलयंकर;
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !
विकट नाच नाची सब दुनिया तेरे भृकुटि-विलास-मात्र से,
नारी-नर नाचे, शिशु नाचे, नाची युवक-युवतियाँ थर-थर,
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !
रग-रग रोम-रोम, सब, नाच उठे लोहित शोणित-कण,
अहंकार नाचा, हिय नाचा, कम्पित हुआ निखिल मन-अम्बर,
अरे भयंकर ओ शिवशंकर !

हम जड़ भी गतिचलित हो गये, उस तेरे गतिमय नर्तन से,
अवश डुला तव ताण्डव-गति से अचल राष्ट्र-निद्रा-गिरि-मन्दर,
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !
हम नाचे तो, किन्तु हो गये, देव, बहुत कुछ हम बे-ताले,
तव ताण्डव-यति-गति को हमने,विकृत कर दिया था, हे शशिधर;
अरे भयंकर, ओ प्रलयंकर !
तू मति दाता तू, कृति-दाता, गति-दाता तू औघड़ दानी,
अब निष्कृति-निर्गति दाता बन प्रकट रहा है तू, हे नटवर;
अरे भयंकर, ओ प्रयलंकर !
जब जग-जन की आँखों में तू बन जाता है अगति-अकृति-मय,
तभी रुद्र गतिमय होता है तेरा अति गभीर अन्तर-तर;
अरे भयंकर, ओ प्रलयंकर !
नाचा स्वयं, नचाया सब को, और समेटी हैं अब लीला,
'ठहरो!'—यों कहकर तू गुप-चुप नाच रहा है स्वयं ताल पर,
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !
अपना नाच आप नाचेगा ? क्या न नचायेगा अब हमको ?
भर दे रे, तू इसी अगति मिस, भर दे गति हिय में विश्वम्भर,
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !
हम फूहड़ ! हम कैसे नाचें तेरी सुघड़ ताल-गति-यति पर ?
तू ही सदा नाचता रह, रे, एकाकी भैरव नटनागर,
अरे भयंकर, ओ प्रलयंकर !
तेरे रक्त-बिन्दु, श्रम-कण बन, झलक रहे हैं तव ललाट पर,
उसी स्वेद-कण-दर्पण में हम निरखेंगे निज शुद्ध रूप वर।
अरे भयंकर, ओ शिवशंकर !

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
८ अप्रैल, १९३४

■

मर-मर हम फिर-फिर उठ आये

मर-मर, हम फिर-फिर उठ आये !
अब तक तो कवलित न कर सका, महाकाल मुँह बाये,
मर-मर, हम, फिर-फिर उठ आये !
हम अक्षर, हम अमर सदा के, हम मृत्युंजयकारी,
हम अनादि, हम सतत सनातन, हम न काल के जाये;
मर-मर, हम, फिर-फिर उठ आये !
हम समझे सब भेद : मृत्यु है पट-परिवर्तन-लीला,
जीवन अमर, अनन्त, अनामय, फिर हिय क्यों घबराये ?
मर-मर, हम, फिर-फिर उठ आये !
यह बह रही सजीवन धारा तोड़ प्रकृति पाषाणी,
महा मृत्यु के अन्तर में भी जीवन-बिन्दु समाये,
हम, मर-मर, फिर-फिर उठ आये !
जनम-मरन की भेद-भावना हृदय छोड़कर भागी,
जगी प्रतीति; हिये में हमने अजर अमर पिय पाये,
हम, मर-मर, फिर-फिर उठ आये !
कोटि-कोटि मन्वन्तर से यह जीवन धार पुरानी,—
नित-नूतन-सी उमड़ रही है जड़ता मत्यु नसाये,
हम, मर-मर, फिर उठ आये !
अरे, सहस्रों वर्षों पहले मृत्यु-तत्त्व हम समझे,
धिक् हमको, यदि मरण-भीति यह आकर आज सताये,
हम, मर-मर, फिर-फिर उठ आये !

डिस्ट्रिक्ट जेल, अलीगढ़
२३ जनवरी, १९३४

■

पराजय-गीत

आज खड्ग की धार कुण्ठिता है ख़ाली तूणीर हुआ,
विजय पताका झुकी हुई है, लक्ष्यभ्रष्ट यह तीर हुआ,
बढ़ती हुई क़तार फ़ौज की सहसा अस्त - व्यस्त हुई,
मस्त हुई भावों की गरिमा महिमा सब संन्यस्त हुई
मुझे न छेड़ो इतिहासों के पन्नों में गतधीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता है ख़ाली तूणीर हुआ !

मैं हूँ विजित, जीत का प्यासा विजित, भूल जाऊँ कैसे ?
वह संघर्षण की घटिका है बसी हुई हिय में ऐसे –
जैसे माँ की गोदी में शिशु का दुलार बस जाता है,
जैसे अंगुलीय में मरकत का नवनग कस जाता है,
'विजय-विजय' रटते-रटते मेरा मनुआ कल-कीर हुआ,
फिर भी असि की धार कुण्ठिता है, ख़ाली तूणीर हुआ !

गगन भेदकर वरद करों ने विजय प्रसाद दिया था जो,
जिसके बल पर किसी समय में मैंने विजय किया था जो,
वह सब आज टिमटिमाती स्मृति-दीपशिखा बन आया है,
कालान्तर ने कृपा आवरण में उसको लिपटाया है,
गौरव गलित हुआ गुरुता का निष्प्रभ क्षीण शरीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता है ख़ाली तूणीर हुआ !

एक सहस्र् वर्ष की माला मैं हूँ उलटी फेर रहा,
उन गत युग के गुम्फित मनकों को फिर-फिर हेर रहा,
घूम गया जो चक्र उसी की ओर देखता जाता हूँ,
इधर-उधर सब ओर पराजय की ही मुद्रा पाता हूँ !
आँखों का ज्वलन्त क्रोधानल क्षीण दैन्य का नीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता है ख़ाली तूणीर हुआ !

विजय-सूर्य ढल चुका अँधेरा आया है रखने को लाज,
कहीं पराजित का मुख देख न ले यह विजयी कुटिल समाज,
अंचल, कहाँ फटा अंचल वह ? माँ का प्यारा वस्त्र कहाँ ?
अर्धनग्न, रुग्णा, कपूत की माँ का लज्जा-अस्त्र कहाँ ?
कहाँ छिपाऊँ यह मुख अपना ? खोकर विजय फ़क़ीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता है ख़ाली तूणीर हुआ !

जहाँ विजय के पिपासार्त हो गये, आँख की ओट कई,
जहाँ जूझकर मरे अनेकों, जहाँ खा गये चोट कई,
वहीं आज सन्ध्या को मैं बैठा हूँ अपनी निधि छोड़े,
कई सियार, श्वान, गीदड़ ये लपक रहे दौड़े-दौड़े !
विजित साँझ के झुटपुटे समय कर्कश रव गम्भीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता है ख़ाली तूणीर हुआ !

रग-रग में ठण्डा पानी है, अरे उष्णता चली गयी,
नस-नस में टीसें उठती हैं, विजय दूर तक टली सही,
विजय नहीं, रण के प्रांगण की धूल बटोरे लाया हूँ,
हिय के घावों में वर्दी के चिथड़ों में ले आया हूँ !
टूटे अस्त्र, धूल माथे पर, हा ! कैसा मैं वीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता है, ख़ाली तूणीर हुआ !

वर्दी फटी, हृदय घायल, कारिख मुख भर, क्या वेश वना?
आँखें सकुच रहीं, कायरता के पंकिल से देश सना !
अरे पराजित, ओ ! रणचण्डी के कुपूत! हट जा, हट जा,
अभी समय है, कह दे, माँ-मेदनी ज़रा फट जा, फट जा,
हन्त ! पराजय-गीत आज क्या द्रुपद-सुता का चीर हुआ ?
खिचता ही आता है जब से ख़ाली यह तूणीर हुआ !!

■

अग्नि-कायर-संवाद

अग्नि शिखा ने धधक कहा, "मैं प्यासी हूँ"
कायर बोला, "मैं तो एक उदासी हूँ"
"मुझे क्या ग़रज़ तू प्यासी है या भूखी ?
बता, कहाँ से लाऊँ मैं समिधा सूखी ?"

हवन कुण्ड की आग उगलने लगी वचन:
"अरे भस्म कर दे तू अपना जीवन-धन
मेरी प्यास बुझे, अब मत कर देरी,
तेरे द्वारे आज लगाती हूँ मैं फेरी।

मुझको मत निराश कर तू आलसी अरे,
वरना मँडराऊँगी मैं बहु रूप धरे,
कभी बनूँगी, मैं परतन्त्र भाव पीड़ा,
कभी खेत खाऊँगी बन अकाल-क्रीड़ा।

अरे कापुरुष, दे - दे तू मुझको पानी
बुझने दे मम प्यास, निपट - से अज्ञानी,
वरना, मैं हूँ आग तुझे खा डालूँगी।
बन कर हिय की हूक हृदय में सालूँगी !''

सुन करके ये वचन भीरु हिय मुरझ गया
पर, वारों के हिय का बन्धन सुरझ गया
उरझ गया बलिदानोत्कण्ठा का फन्दा
मर मिटने के भाव हुए फिर से ज़िन्दा !

■

शिखर पर

"कुंकुम" पृ ६२०

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत, रे बलि-बध के सुन्दर जीव,
उस कठोर शिखर के ऊपर है मन्दिर की नींव;
बड़े - बड़े थे शिलाखण्ड मग रोके पड़े अचेत,
इन्हें लाँघ तू, यदि जाना है तुझे मरण के हेत;
ऊपर, अगम शिखर के ऊपर, मचा मृत्यु का रास !
नीचे, उपत्यका में, है जीवन-पंकिल का त्रास।

"कुंकुम" पृ ६२१

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे तू बलिदानों के पुंज,
देख कहीं न लुभावे तुझको यह जीवन की कुंज;
मधुर मृत्यु का नृत्य देख तू देने लग जा ताल,
अपना सीस पिरोकर कर दे पूरी माँ की माल,
है जीवन अनित्य, कट जाने दे तू मोहक बन्ध;
कर दे पूरा आज मरण का तू अपना सुप्रबन्ध।
कर दे पूरा आत्मनिवेदन का तू आज प्रबन्ध।

■

नोट:- 'कुंकुम' में अन्तिम पंक्ति इस रूप में दी हुयी है।

१९३०वें वर्ष की समाप्ति पर

जाते हो ? जाओ, सुखेन जाओ, हँसते जाओ, प्यारे,
पूर्ण भूत की सुघड़ जाल में, हँस फँसते जाओ, प्यारे,
हे उनीस सौ तीसवें बरस, क्रीड़ा-काल बीत आया,
तुम्हें बुलाने को, मुसकाता, देखो वह अतीत आया;
छिन-छिन बीत रही है आज, तुम्हारी क्रीड़ा की घड़ियाँ,
खिसक रही हैं खन-खन करतीं काल शृंखला की कड़ियाँ।

मुझे याद है वह दिन जब तुम, आये थे हँसते-मिलते;
उस निशीथ के अपर काल में, देखा था तुमको खिलते;
शरत्कृशा रावी के तट पे, छटा तुम्हारी देखी थी;
उस दिन इस जीवन में एक, नयी आभा अनुलेखी थी;
उस दिन लगा चुके थे, दावों पर जो कुछ भी पूँजी थी,
हे सुवर्ष, उस दिन, 'स्वतन्त्र भारत की जै' ध्वनि गूँजी थी।

उस दिन भारत के दिङ्मण्डल में, गूँजा उद्घोष नया;
उस दिन बन-ठनकर झुन-झुन करती, आयी आशा विजया;
मुझे याद है; उस दिन झण्डे के नीचे कुछ गान हुआ;
अथवा सोते हुए देश की, जागृति का कुछ भान हुआ;
वह प्यारा कप्तान जवाहर, उस दिन नाचा फिरा वहाँ;
आशाओं का पुंज याद है, उस दिन जैसा घिरा वहाँ!

लिखी हुई है अहो तुम्हारे, वक्षस्थल पर अमिट कथा;
कितनी मादकता, कितनी दाहकता, कितनी विकट व्यथा,
ये अनेक बलिदान, प्राण की यह, उत्सुक चटपटी भली;
रे सुवर्ष, देखी है तुमने, निपट वीरता गली-गली;
अनाचार, गोली, डण्डे की, क्रूर यातना देख चुके;
यह सब रख देना उन, अलक्ष्य चरणों में झुके-झुके।

पूर्ण भूत के स्वप्न दुर्ग का, मृण्मय सिंह द्वार खुला;
फहरा रही कँगूरों पर, विस्मरण ध्वजाएँ ये मृदुला;
खड़े पेशवाई को आत्म विसर्जन के ये दरबारी;
दर्शन करने को आयी हैं मदिर भावनाएँ सारी,
हे सुवर्ष नव हर्ष आज सब ओर वहाँ उच्छ्वसित हुआ,
महाकाल का देश तुम्हारे स्वागत में उल्लसित हुआ।

जाओ, सखे, थकित मानवता का, इतिहास बनाने को;
जाओ, शान्त, बिना बोले, विश्रम अवकाश मनाने को;
एक बार गिन-गिनकर अपनी, कृतियों की दुनिया छोड़ो,
जोड़ो नाता निष्कृति से, आविष्कृति की मणियाँ फोड़ो;
हे अशान्त, विश्रान्त घाट की, ओर छोड़ दो रिक्त तरी;
आशा और निराशाओं की छोड़ चलो अपनी गठरी।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
३१ दिसम्बर, १९३०

■

विप्लव गायन

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये एक हिलोर उधर से आये,
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि - त्राहि स्वर नभ में छायें,
नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाये,
बरसे आग, जलद जल जाये, भस्मसात् भूधर हो जायें,
पाप पुण्य सद् - सद् भावों की धूल उड़ उठे दायें - बायें;
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक - टूक हो जायें,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये,

माता की छाती का अमृत मय पय काल कूट हो जाये,
आँखों का पानी सूखे, हाँ, वह खून की घूँट हो जाये,
एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाये,
अन्धे मूढ़ विचारों की वह अचल शिला विचलित हो जाये,
और दूसरी ओर कँपा देने वाला गर्जन उठ धाये,
अन्तरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये !

नियम और उप नियमों के ये बन्धन टूक - टूक हो जायें,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जायें,
शान्ति दण्ड टूटे, उस महा रुद्र का सिंहासन थर्राये,
उसकी शोषक श्वासोच्छ्वास, विश्व के प्रांगण में घहराये,
नाश ! नाश !! हाँ, महानाश!!!, की प्रलयंकरी आँख खुल जाये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाये !

"सावधान ! मेरी वीणा में चिनगारियाँ आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिजराबें, युगलांगुलियाँ ये मेरी एठी हैं,
कण्ठ रुका जाता है महानाश का गीत रुद्ध होता है।
आग लगेगी क्षण में, हृत्तल में अब क्षुब्ध युद्ध होता है ॥
झाड़ और झंखाड़ व्याप्त हैं इस ज्वलन्त गायन के स्वर से।
रुद्ध गीत की क्षुब्ध तान निकली है मेरे अन्तर तर से।

"कण कण में है व्याप्त वही स्वर, रोम-रोम गाता है वह ध्वनि,
वही तान गाती रहती है कालकूट फणि की चिन्तामणि,
जीवन ज्योति लुप्त है अहा ! सुप्त हैं संरक्षण की घड़ियाँ।
लटक रही हैं प्रतिपल में इस नाशक संभक्षण की लड़ियाँ।
चकनाचूर करो जग को गूँजे ब्रह्माण्ड नाश के स्वर से।
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तर तर से !

"दिल को मसल-मसल मेंहदी रचवा आया हूँ मैं यह देखो –
एक एक अंगुल-परिचालन में नाशक ताण्डव को पेखो।
विश्वमूर्ति ! हट जाओ, यह बीभत्स प्रहार सहे न सहेगा।
टुकड़े - टुकड़े हो जाओगी, नाश-मात्र अवशेष रहेगा ॥
आज देख आया हूँ जीवन के सब राज़ समझ आया हूँ,
भ्रू - विलास में महानाश के, पोषक सूत्र परख आया हूँ;
"जीवन गीत भुला दो कण्ठ मिला दो मृत्यु गीत के स्वर से।
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तरतर से !

जीवन में जंज़ीर पड़ी खन-खन करती है मोहक स्वर से –
अन्दर आग छिपी है इसे भड़क उठने दो एक बार अब,
दहल जाय दिल, पैर लड़खड़ायें, कँप जाय कलेजा उनका,
नाश स्वयं कह उठे कड़क कर उस गभीर, कर्कश-से स्वर से :

"बरसों की साथिन हूँ तोड़ोगे क्या तुम अपने इस कर से ?,
ज्वालामुखी शान्त है इसे कड़क उठने दो एक बार अब।
सिर चक्कर खाने लग जाये टूटे बन्धन शासन-गुण का।
'रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तर तर से'!

■

बसन्त

कविते, सूना है यह जीवन, भार भूत, नैराश्य भरा
फिर भी कारा में आया है, यह मधुपति कुछ डरा-डरा,
पदाक्रान्त मैं ज्वराक्रान्त हूँ, निस्साधन अति दीन अहो,
कविते, ऋतु राजा को कैसे आज रिझाऊँ ? तुम्हीं कहो ?

नहीं दिखा सकता हूँ दिल के शोलों की आतिश-बाज़ी
कहीं साफ़गोई न बढ़ा दे पिय की अगली नाराज़ी !

पीपल की डालें दिखती हैं मेरे छोटे जँगले से,
आज साँझ को मैंने देखे उनके रँग-ढँग बदले-से,
थिरक रही थी सान्ध्य-पवन में पीपल की हर-हर डाली,
खेल रही थी किरणों से पत्तियाँ सुनहली हरियाली,

डूब गया इतने में सूरज, पड़ीं पत्तियाँ वे काली
है ऐसा मेरा जीवन; छिन उजियाली, फिर अँधियाली !

डिस्ट्रिक्ट जेल, बरेली
३० जनवरी, १९३३, बसन्त पंचमी

■

तन-मन से तुमको प्यार किया

तन-मन से तुमको प्यार किया; धन से कैसे करते, बोलो ?
धन से न कभी उन्सियत रही; सम्पत्ति कहाँ धरते, बोलो ?
है तंग जगह इस जीवन में, है यहाँ वक़्त की भी तंगी;
थोड़े - से क्षण, छोटा बरतन, इनमें क्या - क्या भरते बोलो ?

हमने बटोर दीवानापन, लाकर इनमें रक्खा, यारो,
दुनियादारों के लेखे तो खाया हमने धक्का, यारो,
लेकिन इस निःसाधनता में है एक लुत्फ़ कुछ अपना ही,
वह क्या है, क्या बतलायें हम ? गूँगे ने गुड़ चक्खा, यारो;

कह सकते हो : हम असफल हैं इसलिए हुए हम वैरागी;
कह सकते हो : हम पराभूत हैं इसीलिए बनते त्यागी;
पर, प्रेम नहीं है विजितवाद, है आदि-प्रेरणा वह मन की
जिसने सनेह-धूनी तप ली, वह तो सचमुच है बड़भागी,

इक हैरत होती है हमको; कुछ ज़रा तरस भी आता है,–
मुख़्तसर ज़िन्दगानी में यह मानव कैसा गुर्राता है;
तानाशाही, नाना गर्दी, खूँरेज़ी, यह बे - ईमानी ।
गर आज मरे कल, कल दूजा दिन; फिर भी नर यों इतराता है !

ये चन्द ज़िन्दगी के लमहे गर धन बटोरते ही बीते, –
गर, इस कोशिश से पा जाये मानव सब फल मन के चीते,–
तौ भी क्या दिल भर जायेगा सोने-चाँदी की झन - झन से ?
यदि हिय टटोल कर देखोगे, पाओगे अपने को रीते,

सोचा, जीवन-कूज़े में हम क्यों जमा करें कंकड़-पत्थर !
सोचा, सनेह के नव रस से लें क्यों न लबालब इसको भर ?
जब नयी जवानी में दुनिया बढ़ती है धन-संचय करने,—
उस वक़्त चल पड़े हम जोगी इस उलटे-सीधे मारग पर;

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
६ नवम्बर, १९३०, रात्रि १२-४०

■

हम अलख निरंजन के वंशज

हमने भी पाया अजब हृदय,
हम जग को करने प्यार चले,
पर अजब तमाशा हुआ यहाँ :
हम सबके हो हिय-भार चले;
जिस - जिसको हमने अपनाया
वह बेगाना हो गया यहाँ,
मरु में सनेह वर्षण करते
इस जग में हम बेकार चले

हम रहे फुट्ट फैयल याँ पर,
हम इधर - उधर हिय - हार चले
जीवन की इस डगरी में हम
अपना सब कुछ ही वार चले
जिनको हमने अपना समझा
वे ही अब हम से कहते हैं :
'तुम कौन हमारे होते हो ?
तुम ग़लत धारणा धार चले';

हम जन्मजात बौड़म ठहरे,
हमको कब आयी अक़्ल ज़रा ?
इस दिन भी तो उन सबके हित
हम हो जाते हैं विकल ज़रा;
ऐसा कुछ लगता है : गोया,
अपने ही दिल के टुकड़े को–
अपना - सा कर पाने में हम
हो गये यहाँ पर विफल ज़रा;

हम पास बढ़े जितना उनके
वे उतना हमसे दूर हुए;
वत्सलता, स्नेह, दुलार प्यार–
सब उनको नामंज़ूर हुए;
हम थे मुग़ालते में अब तक
जब ठेस लगी, तब होश हुआ;
इक खरी आँच के लगते ही
हिय के सम्भ्रम बे - नूर हुए;

फिर भी हम तो हैं मस्ताने,
है हमें न ख़्वाहिश दानों की,
हम नहीं भिखारी दर - दर के,
परवाह न निज अरमानों की,
हम अलख निरंजन के वंशज;
निज मनोरथों के हम हन्ता;
अपना सब कुछ देने में ही
है सार्थकता इन प्राणों की ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२ दिसम्बर, १९३८, रात्रि २ बजे

■

सम्भाषण

आज चाँद ने ख़ुश-ख़ुश झाँका,
काल-कोठरी के जँगले से;
गोया मुझसे पूछा हँस कर,
कैसे बैठे हो पगले-से ?

कैसे ? बैठा हूँ मैं ऐसे—
कि मैं बन्द हूँ गगन-विहारी,
पागल-सा हूँ ? तो फिर ? यह तो,
कह हारी दुनिया बेचारी,

मियाँ चाँद, गर मैं पागल हूँ—
तो तू है पगलों का राजा;
मेरी तेरी ख़ूब छनेगी,
आ, जँगले के भीतर आ जा

लेकिन तू भी पार फँसा है—
इस चक्कर के ग़न्नाटे में;
इसी लिए तू मारा-मारा—
फिरता है इस सन्नाटे में;

अम्याँ, चकरघिन्नी फिरने का—
यह भी है कोई मौजूँ छिन ?
गर मंज़ूर घूमना ही है,
तो तू ज़रा निकलने दे दिन

यह सुन वह आदाब बजाता—
खिसक गया डण्डे के नीचे;
और कोठरी में 'नवीन' जी
लगे सोचने आँखें मींचे।

डिस्ट्रिक्ट जेल, अलीगढ़
१९३३

■

उत्सीदेयुरिमे लोकाः

किसने हमें सुनाया आकर यह कठोर सन्देश !
कि तुम डटे ही रहना, विचलित मत होना लवलेश ?
किसने भरे हमारे दृग् में ये सपने साकार ?
किसने पहनाया है हमको यह यात्री का वेश ?

थक जाते हैं तब भी रहता ही है इतना ज्ञान :
कि हम प्रवासी हैं; हमको क्यों व्यापे आज थकान ?
हमें निभानी ही है अपनी निष्ठा, अपनी लीक;
जान-बूझकर आज बनेंगे क्या हम निपट अजान ?

हमने जान-बूझ कर ओढ़ा जन-संग्रह का भार;
जान-बूझ कर लादा हमने सिर पर यह अम्बार;
समझ-बूझ कर जब लिखवाया इस सूची में नाम, –
कहो, त्याग बैठें क्या तब हम निज पथ-क्रमण-विचार ?

आज थके हैं प्राण, थके हैं पाँव, थकी है देह;
किन्तु, बन्धु, हम कैसे छोड़ें निज प्रवास का नेह ?
'उत्सीदेयुरिमे लोकाः' यदि हम हों तन्द्रित आज !
इसी लिए हमको रहना है अथकित, नित्य अगेह !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१२ जून, १९४४

■

क्यों रोते हो, यार ?

क्यों रोते हो, यार, सिपाही, क्यों रोते हो यार ?
क्या घर की चिट्ठी को पढ़कर जीवन लगा असार ?
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

घर पर विवश छोड़ आये थे तुम जो मनहर मीत,–
क्या मालूम हुआ है, तुमको, हुआ वही विपरीत ?
क्या, बस, रोने लगे इसी से ओ तुम अचल अभीत ?
बड़ी कठिनता से मिलता है यहाँ अचंचल प्यार !
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

मुँह देखे की प्रीत यहाँ है, मुँह देखे की लाज,
कोई अपनी माँग भरे क्यों निर्वासित के काज ?
नित्य समागम पर ही स्थित है अपना मनुज समाज !
यह ध्रुव सत्य परख लो, भाई, मत बैठो मन-मार;
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

तुम्हीं नहीं हो यहाँ अनोखे, निज पीतम से त्यक्त,
तुम-जैसे हैं कई, – व्यथाएँ जिनकी हैं अव्यक्त;
निज प्रिय छोड़, लाम पर जाते हैं जो भी अनुरक्त–
उनमें बहुतों को मिलता है यही अथिर व्यवहार !
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

बुरा मानने का इसमें है, तुम्हीं कहो क्या काम ?
आकर अन्य बसेंगे ही जब रोता होगा धाम !
'प्रकृति याति मानवी'–समझो यह रहस्य हिय थाम !
यह है शती बीसवीं; प्रचलित हैं अब नये विचार !
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

सामूहिक उत्थान हेतु हैं अर्पित जिनके प्राण,–
उनको निज का वैयक्तिक सुख क्यों रोके हठ ठान ?
निवेदितों में तुमने जब निज नाम लिखाया आन,–
तब, अब कहो, शिकायत कैसी ? क्यों यह हा-हा-कार ?
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

तुम कहते हो : अरे ! पराया हुआ वही रसखान,–
जिसने हुलस दिये थे हमको नित्य अमित वरदान !
हाँ ! पर, कब तक बाट तुम्हारी जोहें आतुर प्राण ?
यों, अधर में लटके, कब तक चला करे संसार ?
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

तुमने पकड़ा समझ - बूझकर ऊबड़ - खाबड़ पन्थ;
ऐसा पन्थ, कि नहीं दिखाई पड़ता जिसका अन्त !
तुमने ओढ़ी जान - बूझकर विपदा अतुल - अनन्त;
तब क्या आशा कि संग चलेगा कोई प्राणाधार ?
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

क्या अधिकार तुम्हें कि अन्य पर डालो अपना भार ?
पथ का साथी ढूँढ़ो, ऐसा तुमको क्या अधिकार ?
तुम्हीं कहो, कब हुआ दुकेला इकतारे का तार ?
तुम भी करते रहो अकेले झन-झन स्वन संचार !
सिपाही, क्यों रोते हो, यार ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२३ अप्रैल, १९४४

खिचड़ी

आशु-तोष, क्यों असन्तोष की धधक रही है ज्वाला ?
भस्म कर रही है क्यों मेरे हिय को यह विकराला ?
असन्तोष है ? या है केवल यह दुश्चिन्ता प्रबला ?
अथवा इस हिय में छायी है आत्म-दीनता अटला ?
लप-लप लपक रहीं ज्वालाएँ ये सब यहाँ घनेरी,
यह जीवन होने को है क्या आज राख की ढेरी ?

क्या यह पतनोन्मुख भावों की द्योतक है बेचैनी ?
क्यों चलती है हिय में क़ैंची - सी यह पैनी - पैनी ?
पतन प्रेरणा है यह ? या यह उन्नति - द्योतकता है ?
या यह केवल मति-विभ्रम की प्रखर विमोहकता है ?
भोले बाबा, रंच बता दो है कैसी यह माया ?
मेरे नभ - मण्डल में छायी है यह कैसी छाया ?

इन संकल्प - विकल्पों ने है डाला हिय में डेरा,
चपला उद्विग्नता आ गयी करने रैन - बसेरा;
यह प्रमाद है ? अलस भाव है या विराग - गैरिकता ?
है जीवन-शर्करा ? या कि यह है केवल मरु-सिकता ?
अहो वृषभ वाहक, दाहकता उठती है क्षण-क्षण में
रह-रहकर क्यों होने लगती है तड़पन तन-मन में ?

खद-बद, खद-बद हिय की हाँड़ी निशि-वासर करती है;
है यह क्या जो उथल-पुथल यों मम हिय में भरती है ?

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर
९ जनवरी, १९३१

क्रान्ति ?

क्रान्ति ? क्रान्ति ? मेरे आँगन में
यह कैसा हुंकार मचा ?
बोलो तो यह किसने अपने–
श्वासों का फुंकार रचा ?

झंकारों, धनु टंकारों का
यह चिर परिचित स्वर छाया;
रण-भेरी का यह भैरव-रव,
कहो कहाँ से घिर आया ?

क्या सचमुच ही महा प्रलय की आँधी उठ आयी क्षण में ?
ऐं ? क्या महा क्रान्ति मतवाली आयी मेरे प्रांगण में ?

क्रान्ति जगी, आँधी आयी, यह
उठी ज्वाल, चीत्कार हुआ;
नभ काँपा, धरती भर्रायी,
जग में हाहाकार हुआ;

वार हुए छाती पर; मन के–
मन्सूबे मिस्मार हुए
प्रलयंकर प्रवाह में पड़कर
कितने बे-घर-बार हुए ?

शोक कहाँ ? वेदना कहाँ है ? मिटने का उल्लास यहाँ;
मोह उठा, सब पाप कटा, अब रहा न जीवन-त्रास यहाँ !

आओ क्रान्ति, बलायें ले लूँ,
अनाहूत आ गयी भली;
वास करो मेरे घर - आँगन;
बिचरो मेरी गली - गली;

सड़ी - गली परिपाटी मेरी,
इसे भस्म तुम कर जाओ;
विकट राज-पथ में मँडराओ
जन-पद में डोलो आओ;

नयी अग्नि ज्वाला भड़का दो तुम मेरे अन्तरतर में
अरी, नये, नक्षत्र जगा दो मेरे धूमिल अम्बर में।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
२० दिसम्बर, १९३१

■

अनल गान

अरे, अरे, ओ निपट निराशा की श्वासें भरने वाले,
अरे पराजित, अरे पराजयवादी, ओ मरने वाले,
ओ शंकित चितवन वाले, ओ आत्म-रूप-विस्मृति वाले,
ओ विजयेच्छुक, ओ गमनोत्सुक, ओ निदाघ-संस्कृति वाले,

दूर पार से आज आ रही अनल-गान की तान नयी,
आज वायु में निष्पन्दन है, कण-कण में है जान नयी।

अनल गीत सुन ले, ओ यौवन के मदमाते वीर बली,
अग्नि गीत की यह स्वर लहरी अन्तरिक्ष को चीर चली;
तारक माला-सी स्फुलिंग स्वर-श्रुतियाँ सब दिशि फैल रहीं,
अनल-कुमार, आज तू पावक स्वर-तरंग से खेल यहीं;
आज अग्नि - संस्कारों की तू हो जाने दे रस्म, सखे,
अग - जग की जड़ता - चंचलता हो जाने दे भस्म; सखे !

स्वर-सप्तक कुछ नहीं, ताल-यति-गति को भस्मीभूत किये,—
निपट अटपटी विकट तान से चिनगारियाँ प्रसूत किये—
अरे, चला चल सर्व दहन का वैश्वानर-सन्देश लिये;
आज लुकाठी की वीणा ले चल, दाहक का वेश किये;
अग्निमयी ही नहीं, अनल-सम्भूता हो वीणा तेरी !
अरे क्रान्तिदर्शी, उठ आये अग्नि-शिखा, अब क्या देरी ?

तू नाशक ध्वनियों का गायक, तू विकराल क्रान्ति-द्रष्टा,
तू विद्रोह रूप प्रलयंकर, तू है अनल-राग-स्रष्टा,
तेरे प्राणों में तड़पन है, नीच भावना अब कैसी ?
यह विश्वासघात अब कैसा ? दुष्कृतियाँ क्यों, अब ऐसी ?
कर दे क्षार-क्षार अपनी इन प्राणमोहनी कृतियों को,
खण्ड-खण्ड कर दे, रे मोही, निज दुर्बल संस्मृतियों को ।

कितनी सदियों से लादे है तू उर पर यह भार बड़ा ?
अरे, तनिक तो बता कि कैसे तेरा यह अविचार बढ़ा ?
जीवन-कन्दुक ठुकराने का तू ने स्वांग भरा, क्यों रे ?
रंच बता तो, किन गलियों में अब तक तू विचरा यों, रे ?
अब उठ, आज जला दे सत्वर निज व्यक्तित्व, मोह, ममता,
माँग अलख से भीख कि तुझको मिले ज्वलित पावक क्षमता ।

ओ बरसों से शिथिल पाश में जकड़े रहने वाले, तू,
आत्म-दीनता की दाहकता में निज दहने वाले, तू,
ध्रुव विश्वासान्तर्ज्वाला से भर दे अन्तरिक्ष, जल, थल,
आज अनल-ताण्डव होने दे, मच जाने दे तू हलचल,
तत्त्व निखर आये, असत्य यह होवे भस्मीभूत सभी,
अग्नि-परीक्षा-विधि पूरी हो, जग हो पावक-पूत अभी।

ध्वंस-कार्य यह अभी-अभी ही शुरू हुआ है ज़रा-ज़रा,
गतानुगति का वन - उपवन अभी बना है हरा - भरा,
तुझे इसे उन्मूलित करना है, करना है क्षार, सखे,
तुझे मेटना है जगती के तल से सब अविचार, सखे,
अनल गीत गा उठ तू निर्भय, घिर आये ज्वलन्त-ज्वाला
तू पहना दे जग-ग्रीवा में, यह अंगारों की माला।

शोलों के फूलों से सज्जित सुख-शैया हो जाने दे,
भर ले अंगारे करवट में हूक-लूक उठ आने दे;
अरे, अकर्मण्यता शिथिलता भस्मसात् हो जाने दे;
अग्नि-चिता में विजित भाव को तू अब तो सो जाने दे;
त्राहि ? त्राहि ? रे, त्राण कौन-सा ? आज प्राण की होली है !
तेरी, दाहक स्वर-लपटों में स्वयं त्राण की होली है !

■

हे क्षुरस्य धारा पथगामी

हे विशुद्ध, हे पूर्ण बुद्ध, सुनिरुद्ध तृष्ण, हे संन्यासी,
हे ज्वलन्त, हे सन्त, शान्त हे, हे अनन्त के अभ्यासी,
मानवता की तुम प्रहेलिका, जगती के तुम अचरज हे,
हे विकास की विकट समस्ये, श्रेष्ठज हे, जय अन्त्यज हे,
योग-युक्त हे, शोक - मुक्त हे, यज्ञ-भुक्त, हे बलिदानी,
हे अपमानित, हे सम्मानित, श्री गुरुदेव परम ज्ञानी,

हे प्रलयंकर, हे शंकर, हे किंकर, हे निष्ठुर स्वामी,
परम सेव्य, हे तुम चिर सेवक, ओ कर्मठ, ओ निष्कामी,
हे क्षुरस्य धारा - पथ - गामी, हे जगमोहन जय, जय हे,
युद्धवीर हे, रुद्धपीर हे, नीति - विदोहन, जय जय हे,
अनय-क्षय हे, अभयनिलय हे, सदय हृदय पाप - क्षय हे
हे कृतान्त-से काल-कूट तुम, जीवन दायक मधु पय हे,

धन्य हुई यह वसुधा वृद्धा, मानवता यह धन्य हुई,
तव विप्लवकारी प्रसाद से भय-भावना नगण्य हुई;
ये मिट्टी के पुतले भी बढ़-बढ़ लड़ गढ़ चढ़ने दौड़े,
क्या ही फूँके प्राण कि इनने सदियों के बन्धन तोड़े;
आज उठी है अश्रुत स्वर लहरी जगती के अम्बर में,
एक नवल उत्साह - वीचि फैली है सकल चराचर में;

आज शस्त्र-अस्त्रों की घातें खूब कुण्ठिता हुईं भली,
'अक्कोधेन जिने क्कोधम्' की क्या ही चरचा नयी चली !
अहो विश्व के हृदय - पटल को कम्पित कर देने वाले,
अहो कराल, मृदुलता से मानव हिय भर देने वाले,

आज सत्य, शान्ति की, व्यक्तिगत परिधि विश्व व्यापिनी बनी
यह आकुंचित तटिनी जग - विप्लावक मन्दाकिनी बनी,

देव, तुम्हारे एक इशारे में है उथल - पुथल जग की
उदधि गभीर कण्ठ-ध्वनि में है आभाविप्लव के रंग की ।
अस्थि-पुंज में यज्ञ - कुण्ड की ज्वालाएँ ये धधक रहीं
ओ प्रचण्ड तापस, बस-बस, जग भस्मसात् होवे न कहीं !

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैज़ाबाद
२४ सितम्बर, १९३२

■

ओ, सदियों में आने वाले !

आज सुनी फिर से जग जन ने
विकट गड़गड़ाहट अम्बर में,
इन्द्र-वज्र की गगन भेदिनी
ध्वनि गूँजी नभ के अन्तर में;
दिक्-गज डोले, काल कँप उठा,
जब कि दधीचि अस्थियाँ कड़कीं,
वृत्र अन्ध की असुरपुरी में
छल - भस्मक ज्वालाएँ भड़कीं;

इक तापस की डेढ़ पसलियाँ
कुलिश गर्जना फिर उट्ठी हैं,
विगत प्राक्-इतिहास कथाएँ
स्मृति पर आज उभर उट्ठी हैं ।

विस्मृत युग में थे दधीचि वे
जिनने अपना देह - दान कर,—
हरण किया था वृत्रासुर का
अन्धकार घनघोर प्राण - हर;

एक दधीचि आज आया यह
जिसको यज्ञ-हुताशन - ज्वाला,—
प्राण-अरणि के संघर्षण से
धधकी देह बीच विकराला;

अस्थि - पुंज यह, यज्ञ-वेदि-सम;
ज्वलित हो उठा आत्म-ज्वाल से;
चिन्तन मग्न आज यह नरवर
घिरा हुआ है ज्वाल - माल से !

यह प्रचण्ड होलिका जल रही
उसके तपोज्वलित अन्तर में,
फैला है आलोक शोक हर,
दृग्-दृग् में, अवनी-अम्बर में;

निज तप के उत्तुंग शिखर चढ़,
सुलगा कर प्राणों की होली,
अलख जगाकर कहता है यह :
चेत ! अरी मानवता, भोली !

इसका तप सन्देश - दिवाकर
चमक रहा है गगनांगन में;
अरे, रहेगा अब भी क्या तम
मानवता के मन - प्रांगण में ?

कई युगों से ठना हुआ है
जड़ औ' चेतन में भीषण रण,
कई युगों से जूझ रहे हैं
चिर प्रकाश औ' निबिड़ तिमिर घन;

कई युगों से, अहो, हो रहा,
इन्द्र-वृत्र का यह संघर्षण;
युग-युग से होता आया है
दधीचियों का प्राणाकर्षण;

अगम काल-नद में होता ही
रहता है प्राणों का तर्पण,
अरे 'स्वधा' 'स्वाहा' से ही है
प्राण - विवर्द्धन है प्राणार्पण;

तम-प्रकाश के तुमुल युद्ध में
क्या तम की ही तूती बोली ?
क्या न हुई है पग-पग पर
अन्धकार की हँसी - ठठोली ?

घन तम ने तो, अरे सदा ही
अपनी कलुष कालिमा धो ली,
पर प्रकाश तो छिटकाता ही
रहा सदा निज कुंकुम-रोली;

फिर से आज धरा डोली है,
फिर से आज जली है होली;
फिर से आज एक तापस ने
निज प्राणों की झोली खोली !

इन चालीस करोड़ जनों की
आशाओं का पुंज सनातन,
इन चालीस करोड़ जनों के
गौरव का प्रतीक सु-पुरातन,

इन चालीस कोटि मूकों की
घन-गर्जन गम्भीर गिरा वह
तिमिर-ग्रस्त चालीस कोटि की
तेज-पुंज चिर ज्योति शिरा वह,

मुट्ठी - भर हाड़ों की ठठरी,
वह गान्धी जग-मोहन, जय-जय !—
प्राणों को रख चुका दाँव
पर, होकर अति निःसंशय, निर्भय !

जिनने प्राणों के बदले में
सीखा है प्राणों का लेना,—
जिनने सीखा है निष्कारण,
यों ही, पर को पीड़ा देना,—

क्यों न हँसे वे देख-देख यह
तिल-तिल प्राण-हवन की क्रीड़ा ?
क्यों न हँसे वे देख सन्त को
जग के कारण सहते पीड़ा ?

इसी तरह तो कभी हँसे थे वे—
वे येरुशलम निवासी ?
उनसे पहले विहँस चुके थे
यूनानी सुख - भोग - विलासी !

है अति गहन तमिस्रा जग में;
हाँ, छाया है आज अँधेरा;
पड़ा हुआ है आज विश्व में
भीषण अन्धकार का डेरा;

आज चुनौती हमें दे रहा
यह दुर्दम तम त्रास भयानक,
कहता है 'लो नष्ट हुए हैं
सभी ज्योति के स्वप्न अचानक !'

किन्तु महा मानव कहता है
'मम हिय में है प्रखर प्रभाकर,
मत घबड़ाओ, मानव
जग में मुसकायेगी ऊषा अमाहर !'

जग को ज्योति दान देने हित,
अपने कोमल अन्तर-तर में–
ओ अति मानव, किया निमन्त्रित
तू ने रवि निज-हिय-अम्बर में ?

सूर्य चक्र का बेधन कर तू,
मत कर यों ब्रह्माण्ड विद्ध, तू,
ऐसी विकट साधना मत कर,
ओ निर्मोही महासिद्ध, तू,

यह तव तप-उज्ज्वल अन्तस्तल,
यह तव दुर्बल देह पुरातन,
अरे, धधक उट्ठेगी, रुक जा,
ओ बलिदानी, ओ करुणा घन !

सहन कर सकेगी न, अरे यह
अति तप-तेज, पुरानी काया;
और, हमारा तो संबल है
यही जिसे समझा तू माया;

तुझ देही को इसी देह मिस
अब तक हम सबने पहचाना,
तेरे इस शरीर को ही तो
हमने अपनी निधि है माना;

तव जर्जर पंजर ही तो है,
हम दीनों का एक सहारा,
यह न रहा तो हो जायेगा
बस अनाथ यह देश बिचारा।

डौंक रही है यह पामरता,
पशुता भी गर्जन करती है,
भावी की काली अँधियाली
हिय में चिन्ता-भय भरती है;

अरे, ज्योति तो है तेरे ही
इन सकरुण, स्वप्निल नयनों में,
ये यदि मिचें, अँधेरा होगा,
तेरे जन-गण के अयनों में;

खोले रह, रे तू खोले रह,
मत मिंचने दे अपने लोचन,
इन्हीं टिमटिमाते दियलों से
होगा जग का संकट-मोचन !

यद्यपि
सतत ल
ममें सु

जब युग उद्‌ग्रीवी होता है,
जब सदियाँ करवट लेती हैं–
मानवता की पुण्य सुकृतियाँ
जब वरदान अमित देती हैं,–

अरे, तभी तो जग-मरु-थल में
ऐसा कमल विहँस खिलता है,
बड़े भाग्य से जन-समूह को
ऐसा पथ-दर्शक मिलता है;

ना जाने कितने चिर संचित
पुण्यों का प्रतिफल, तू आया;
यह न भूलना कि है हमारे
लिए, अमृत तेरी यह छाया !

हम तेरी वेदना-व्यथा को
क्या जानें ? कैसे पहचानें ?
तेरी अतला गहराई की,
कैसे जायें थाह लगाने ?

तुझ-सा तो तू ही है, नरवर,
तव समानधर्मा न यहाँ है;
ओ सदियों में आने वाले,
तेरी उपमा सुलभ कहाँ है ?

तू अपना अपमान स्वयं है,
अनुपमेय तू, अरे निराले,
तुझको तू ही जान सके है,
ओ आजानु भुजाओं वाले !

आज बनायें क्या हम[illegible] यह
अगणित वरदानों की काया;
तव तप-बल ही से इस भूतल है
उठी बहुत मानवता ऊँची;

रेंग रहे थे जो कि पेट के
बल, इस भूमि-खण्ड के जग-जन,—
वे ही अब तो उन्नत शिर हैं;
सबल हुए उनके दुर्बल मन;

तव प्रसाद से प्राप्त हुआ है
सदियों का खोया अपनापन,
अरे, आज हुंकार उठे हैं
ये नंगे, भूखे, जर्जर तन।

अपनों को मत होम, दया कर,
मत मर, मत मर, अरे अमानी;
ग्रहण कर सकेंगे न कभी हम
तेरा प्राण-दान, ओ दानी,

अल्प प्राण हम, महा प्राण तू,
स्वल्प निष्ठ हम, तू दृढ़चेता,
मरण-वरण मत कर, रे नरवर,
मत बन, मत बन, तू नचिकेता !

तुझसे हमें बहुत पाना है;
अरे अभी तो केवल अथ है,
'इति' मत कर; ले देख, हमारा
कितना विस्तृत, बन्धुर पथ है।

यद्यपि
सतत लो
नममें स

अभी कहाँ ? अब आने को है
तेरा युग तो, अरे प्रवर्त्तक,
तू तो अग्र सूचना लेकर
आ पहुँचा है सत्य समर्थक;

उस युग के निर्माण-काल का
तू ही तो होगा अधिनायक;
उस प्रभात की मधुर भैरवी
का तू ही तो होगा गायक;

इसी लिए तू टेर हमारी
सुन ले, ओ योगी ध्यानस्थित
तुझको तो अपने जन-गण को
करना ही है बहुत व्यवस्थित ।

यदि उस पार बुलावे कोई,
तो तू मत सुन, मत जा, प्यारे,
तेरे बिना, सोच ले क्या-क्या
हो जायेंगे हाल हमारे ?

घटाकाश-वाणी मत सुन तू,
तू मत सुन बलिदान निमन्त्रण;
प्राण-हवन की विकट क्रिया का
अब तो कर लें रंच नियन्त्रण ?

देह नहीं है तेरा बन्धन,
प्राण नहीं हैं तेरे बन्धन,
जन्म-बन्ध से विनिर्मुक्त तू,
ओ जग के तम तोम-निकन्दन !

मत जा गोकुल छोड़; [illegible]र यह
यमुना पार, अरे, ओ [illegible] काया;
तुझ बिन कौन सुरास र[illegible] है
कोन करेगा फिर गो-दोहन ?

मुरली कौन बजावेगा फिर ?
ग्वाल-बाल कैसे नाचेंगे ?
नट नागर, तेरे बिन हम सब
नट-कछनी कैसे काछेंगे ?

तू जीवन-कालिन्दी मत तर,
रुक जा, रंच हमारी सुन ले;
कुछ दिन और इसी गोकुल की
गलियों की कंकड़ियाँ चुन ले !

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
२ मार्च, १९४३, अर्ध रात्रि

■

मस्त रहो

मानव, मस्त रहो जीवन में, तुम मत इतने व्यस्त रहो,
कर्मठ रहो, किन्तु कर दो निज कर्म - संग संन्यस्त, अहो,
रहो सदा ऐसी मस्ती में कि मिट जाये मन का खटका,
कुछ ऐसे उठो कि हो जायें सब चिन्ताएँ अस्त, अहो !

ऐसी मस्ती नहीं कि जिससे मदहोशी - सी आ जाये,
वह मस्ती भी नहीं कि हिय में अलस शिथिलता छा जाये,
ऐसी नहीं कि जिससे हो यह जीवन मद्यप - रूप निरा,
पर, ऐसी जिससे कि हृदय में समता अचल समा जाये ?

यद्यपि
सतत ल...ते रहे अभी तक आश - निराश - हिंडोले में,
...हो, मानव, तुम तो कल्पित उड़नखटोले में;
तुममें स...लो, आकांक्षाओं ने तुमको क्या वरदान दिया !
हम कहते हैं कि कुछ नहीं है इच्छाओं के झोले में ।

इतना बल उनमें अवश्य है कि वे कर्म को विकृत करें;
इतना बल है कि वे तुम्हारे सब सुकृतों को अकृत करें
उनमें यह बल है कि तुम्हारे हिय की शान्ति त्वरित हर लें;
और, तुम्हारे सद्भावों को वे क्षण - भर में अनृत करें !

यही साधना साधो, मानव, कि तुम अडिग औ' अटल रहो,
प्रतिकूलता पधारे सम्मुख तब भी तुम नित अचल रहो;
समझो बन्धु कि आते ही हैं पथ में आँधी के झोंके;
क्या कर लेंगे ये बेचारे यदि तुम मन में सबल रहो !

निश्चय ही हम सब मनुजों को शिश्नोदर की व्याधि मिली,
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह की निश्चय हमें उपाधि मिली,
किन्तु मनुज ही को तो संयम रूपी अमित प्रसाद मिला !
मानव के ही हिय-सर में तो शतदल चित्त समाधि खिली !!

मनुज-प्रगति-इतिहास कह रहा आज ऊर्ध्व भुज होकर यों :
कौन पा सका है अपने को चिर निद्रा में सोकर यों ?
मानव का चिर प्रगति चिह्न यह जागरूकता ही तो है !
अपनापन पाओ, अपने को अपने ही से खोकर यों !

क्या आशा ? कैसी अभिलाषा ? कैसा राग ? द्वे[illegible] यह
ललक लपकना यत्र-तत्र, यह शूकर - श्वान-वै[illegible] काया;
अपनी आकांक्षाओं का शव क्यों लादें हम कन्धे[illegible] है
धधके क्यों न विराग - चिता अब ? शव का मोह शेष कैसा ?

आओ मानव, भस्म रमायें, अपना यह शव-दाह करें !
आओ, आज श्मशान जगायें, हिय में नवल उछाह भरें;
आओ, आज़ मनायें होली, नव उत्सवका साज सजें;
शव जलता है ? तो जलने दो ! हम क्यों हिय में आह भरें ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
११ जनवरी, १९४४

■

विष-पान

तुम कैसे नवीन मतवाले ?
तुम कैसे पीने वाले ?
फेर रहे हो अपना मुँह तुम
देख हलाहल के प्याले ?

विकट नाम पीने वालों का,–
तुम न लजाओ उसे, अरे,
हँसते - हँसते, हाथ बढ़ा यों,
ले लो प्याले गरल - भरे।

यद्यपि
सतत लो विष की बारी आयी, ओ,
मृत पीने वाले;
तुममें सु र रहे हो क्यों अपना मुख
देख हलाहल के प्याले ?

यौवन के सपने का मधवा—
जागृति में विष रूप हुआ;
तनिक निछावर तो हो जाओ,
कैसा रूप अनूप हुआ;
ओ शौक़ीन ढालने वाले,
इससे क्यों घबराओ हो ?
वह भी चक्खा, चखो इसे भी,
क्यों मन में सकुचाओ हो ?
आज पड़ गये हो आकर तुम
काल-कूट विष के पाले !
पर, न फेरना तुम अपना मुख
देख हलाहल के प्याले !

मधु चक्खा मधवा भी ढाला,
अधरामृत का पान किया;
स्वाद-समस्या की उलझन का
भेद भरम कुछ जान लिया;
मान लिया, मधु रस चख कर ही,
अपने को पीने वाला ?
शायद, भूल गये थे विष को
देख सुधा - रस का प्याला !

हाँ देखो यह अमृत-अनृतता –
प्रकटी, ओ जीने वाले,
फेर रहे अब क्यों अपना मुख
देख हलाहल के प्याले ?

असंलग्नता, सतत बिलगता,
निपट उपेक्षा आयी हैं,
कालकूट के विषम छबीले –
प्याले भर - भर लायी हैं;
भर नैनों में सपना, हिय में –
भर-भर सरस उमंग नयी, –
गरल भरे ये पात्र चढ़ा लो,
निखरे छबि रस रंग - मयी;
देखो तो प्यालों से छलके –
क्या फेने नीले - काले
फेर रहे हो क्यों अपना मुँह
देख हलाहल के प्याले ?

पीने वालों की भाषा में
अमिय गरल का भेद नहीं;
स्वाद - समीक्षा में होता है
मधु - कटु का विच्छेद कहीं ?
रस - अनेकता, रूप - भिन्नता,–
है नख़रा गुणवानों का;
सुधा हलाहल एक रूप है,
क़ौल यही मस्तानों का !

यद्यपि
सतत लो कैसी यह अरुचि अधर में,
'नवीन' पीने वाले ?
तुममें सुज रहे हो क्यों अपना मुख
देख हलाहल के प्याले ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
७ दिसम्बर, १९३१

■

नरक-विधान

उधर बिलबिलाते थे कीड़े
नाबदान में किलबिल-किलबिल;
इधर सड़ी, गन्दी, कच्ची-सी
नाली का पानी था पंकिल !

उठते थे अबख़रे भयंकर
सड़न और बदबू के वाँ पर;
और वहीं पर बने हुए थे
मानव नामक कीड़ों के घर !

क्या उन मलिन घरौंदों को भी
घर कह सकते हो तुम, यारो ?
घर कहने के पहले यदि तुम
साहस कर के वहाँ पधारो—

तो तुम देखोगे कि माँद-सी
तंग कोठरी है गीली-सी—
जिसकी दीवारें दिखती हैं
दरकी-सी, मैली, सीली - सी।

जिन कोठरियों में कुत्ते भी
नहीं चाहते छिन भर रहना—
उनमें श्रमिकों के बच्चों को
पड़ता है दिन-दिन भर रहना।

गन्दी बदबू में पलते है
दुनिया के नागरिक सलौने;
चिथड़ों में लिपटे, बढ़ते हैं
मानवता के ये मृदु छौने !

ये दुनिया में आये; इनने
दुनिया में क्या देखा-भाला ?
उजियाले में भी तो देखा
इनने जीवन का अँधियाला।

मानव की निर्दयता देखी,
शोषण सहा, यातना भोगी;
और बन गये बचपन से ही
संक्रामक रोगों के रोगी !

तिल्ली बढ़ी, जिगर बढ़ आया,
ढाँचा हुआ सूख कर काँटा;
रोटी के टुकड़े के बदले
इन्हें मिला चाँटे पर चाँटा

नालदार बूटों के नीचे
रौंदा गया त्रस्त मानवपन;
धन, बल, पैदा करने वाला
स्वयं रह गया, निर्बल निर्धन !

यद्यपि
सतत लो विधान ? रे मानव,
विडम्बना नय की ?
तुममें सत्राजित, अब भी क्या है
बहुत दूर वह घड़ी प्रलय की ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१४ सितम्बर, १९३७, रात्रि २ बजे

■

एक बार तो देख

एक बार तो देख, अरे जग मेरी डण्डा-बेड़ी;
एक बार तो देख : कट गयी है यह मेरी एड़ी;
टेढ़ी-मेढ़ी यह मदमाती मेरी चाल निहार,
झन-झन-झन-झन करता है हम मस्तों का संसार;
गुर्राते झन्नाते फिरते हैं ये मेरे शेर
ओ जग, ज़रा देख तो हैं याँ कैसे विकट दिलेर,!

यहाँ बेड़ियों की उठती है स्वर-झंकार-हिलोर,
बैरक और अड़गड़ों में, चक्कर में, चारों ओर;
झन-झन-खन-खन की यह जीवन-दर्शक मोहक टेक–
बार-बार उठ-उठ आती है यों ही एकाएक;
सुन ले, कान लगाकर सुन ले ओ जग, इसको आज,
अरे, देख तो इन बन्धुओं का फैला यहाँ स्वराज !

नहीं बेड़ियों की यह झन-झन यह है जीवन-[illegible]र यह
काँप रहा है सुन कर जिसको क्षण-क्षण शासन[illegible] काया;
वे पशुबल के अधिनायक क्या जानें इसका त[illegible] है,
निज सर्वस्व होम कर ही है मिलता मुक्त निजत्व ।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैज़ाबाद
३१ अक्टूबर, १९३२

■

घूँट हलाहल

पराभूत, पददलित, प्रताड़ित, भीषण अत्याचार विमर्दित,–
दण्डित, व्रण-मण्डित, खण्डित तन, निरानन्द, पद-पद पर वर्जित,
मानव को मैं देख रहा हूँ आज सतत ठुकराये जाते;
देख रहा हूँ टूट रहे हैं मानव मन के सारे नाते !
देख रहा हूँ अनाचार का महा भयंकर ताण्डव नर्तन,
और सुन रहा हूँ मानव का यह विकराल पाशविक गर्जन !

दुर्दमनीय दानवी लीला, यह दुरन्त वर्बरता जागी,
आज सनी दौरात्म्य-पंक में नर की नरता स्वयं अभागी;
आज सुना है मेरे साथी दण्डित, ताड़ित, त्रस्त हुए हैं;
मेरे संयत भाव हृदय के सहसा अस्त-व्यस्त हुए हैं
आज हृदय में उमड़ रहा है फिर से यह सोया क्रोधानल !
पर मुझको पीना ही होगा अब की फिर यह घूँट हलाहल ।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
११ जून, १९४३

■

यद्यपि ...
सतत लो...

तुममें सज...

अपना मृदु गोपाल

देखा बेड़ी पहने मैंने अपना मृदु गोपाल,
अपना मृदु गोपाल, सलौना वह मन मोहन लाल।

वह प्यारे मुख मण्डल वाला,
वह तेजस्वी, चपल निराला,
वह गोरा, वह कुछ-कुछ काला,
वह अपनी धुन का मतवाला,
जिसको देख उमड़ आती है, वत्सलता बेहाल,
सलौना वह मन मोहन लाल!
देखा बेड़ी पहने मैंने अपना मृदु गोपाल—
सलौना वह मन मोहन लाल।

वह इठलाता, मृदु मुसकाता,
खनन-खनन करता मदमाता,
इधर-उधर से आता-जाता,
नूपुर के स्वन को शरमाता,
कुलिश बेड़ियाँ झनकाता वह चलता मादक चाल,
सलौना वह मन मोहन लाल।
देखा बेड़ी पहने मैंने अपना मृदु गोपाल,
सलौना वह मन मोहन लाल।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैज़ाबाद
१ नवम्बर, १९३२

■

यह
काया;

कारा में सातवीं श्रावणी रक्षा पूर्णिमा है

सोच क्या रहे हो खोये-खोये-से, नवीन, तुम ?
आज फिर आयी राखी पूनम सुहावनी !
मेदिनी लहर रही, नभ से हहर बहीं
हर - हर कर जलधाराएँ लुभावनी;
अरि - दुर्ग बीच तुम अब लौं बिता चुके हो,
एक - दो क्या, अरे, देखो, सात - सात श्रावणी !
सोच क्या ? अवश्य ध्वस्त होगी, नष्ट - भ्रष्ट होगी
बैरियों की यह शस्त्र - अस्त्रवती छावनी

आज तो तुम्हारे भावी स्वप्न शील लोचनों में
झाँईं - सी पड़ी है किसी गत रस - रंग की,
तुम, जो भविष्य चिन्तनों में रहते हो लीन,
सुध कर बैठे हो क्या विगत प्रसंग की ?
रण-वाद्य-रत तव श्रवणों में गूँजी है क्या
कोई लुप्त गूँज किसी मदिर मृदंग की ?
ऐसा लगता है मानो तुम पे पड़ी हैं छीटें
नेह-स्मृति-सरिता की उच्छल तरंग की !

कोमल कराम्बुज थे, कोमल अँगुलियाँ थीं,
जिन पर लहराता था एक रक्षा का ताग !
ह्रोंठों से सुमन्द - मन्द बिखर रहे थे फूल,
उमड़ रहा था स्नेह-वत्सलता का पराग !

यद्यपि
सतत ...दायिनी, अखण्ड भाग्यशालिनी,
पधारी थी सनेह भरी; जागे थे तुम्हारे भाग !!
तुममें स... आया है तुम्हारे हिये, ओ नवीन,
कि...
क्या वही वात्सल्य? क्या वही अमन्द अनुराग ?

तुम तो हो वधिक पुराने, ओ नवीन, सुनो,
तुम पे हैं ना जाने कितनी स्मृतियों के ख़ून !
तुमने तो कितने ही अपने मनोरथ ये,
हठकर, बरबस ही डाले हैं भून - भून !!
जीवन के प्रात में औ' जीवन की सन्ध्या में,
रस कब मिला ? एक - सी हुई हैं दोनों जून
क्या करें ? पधारे आज शूल-हूल बनकर,
वे जो थे तुम्हारे अति कोमल स्मृति-प्रसून !

बढ़े चलो, अरे, मत पीछे मुड़ देखो आज,
राखी आयी, होली औ' दिवाली भी तो आयेंगी;
रस की लगेगी भीर, संस्मृतियाँ कसकेंगी,
आँखों में अतीत की घटाएँ घोर छायेंगी,
पर, तुम रुकना न एक क्षण को भी, बन्धु,
मानवता देख तुम्हें क्षण-क्षण सिहायेगी;
आँखें पोंछती - सी, हिय-कसक टटोलती-सी
जगती की करुणा तुम्हारे गुण गायेगी !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
श्रावणी पूर्णिमा, १५ अगस्त, १९४३

■

राखी की सुध

बिटिया, मेरी गुड़िया रानी, कहाँ तुम्हारा तार ?
कहाँ तुम्हारी स्नेहमयी मंजुल राखी सुकुमार ?
ओ तुम कच्चे धागे वाली, विहँस हुलसती बाल,
ओ तुम कुंकुम - अक्षत वाली लघुरक्षिका विशाल,
यह श्रावणी - पूर्णिमा कारागृह में आयी आज,
संग लिये सावन की मोहकता का हरित समाज !

नभ में, नेह-भरे दल - बादल, धरे विविध आकार,
दौड़ - दौड़ कर भू - मण्डल पर डाल रहे जलधार,
हहर-हहर करती लहराती बही वायु गम्भीर,
फुहियों के मिस टपक रही है रिम-झिम नभ की पीर;
ऐसे समय ओढ़ गत - संस्मृतियों का विरल दुकूल;
बरबस, राखी - पूनम आयी कारा में पथ भूल !

बहिना, यहाँ तुम्हारा भैया, निपट अरक्षित, मूक,
साधन हीन, छीन तन, बैठा किये हृदय दो - टूक;
आज, तुम्हारे कुंकुम - रोचन की स्मृति से ये प्राण,
ऐसे तड़प रहे हैं, जैसे घायल हिरन अजान,
बनकर याद, लहरता है तव अंगुलियों का तार,
बहन, आज आती है सुध राखी की बारम्बार !

उस दिन तुम आयी थीं लेकर कुंकुम, अक्षत, और–
अपने हाथों कते सूत की राखी की मृदु डोर;

यद्यपि ग्रु
सतत लं भरे मेवे संग में थे लगे हुए ताम्बूल,
ये संस्मरण बने याँ मेरे हिय के शूल;
तुममें सृज बनी हथकड़ियाँ राखी, साखी है संसार
छिन यहाँ, कई बहनों के भैया बैठे हैं मन - मार !

हम संक्रान्ति - काल के प्राणी बदा नहीं सुख भोग,
हमें क्या पता क्या होता हैं स्निग्ध - सुखद संयोग ?
हम बिछोह के पले, ख़ूब जाने हैं पूर्ण वियोग
घर उजाड़ कर जेल बसाने का है हमको रोग—
फिर भी, हाँ, हाँ; फिर भी, दिल ही तो है यह अनजान
बरबस तड़प-तड़प उट्ठा करता है यह नादान !

डिस्ट्रिक्ट जेल, फ़ैज़ाबाद
श्रावणी पूर्णिमा, १९३२

■

आज क्रान्ति का शंख बज रहा

आज ठिठक कर खड़ा हो गया
विप्लव के पथ का यह राही,
टेक लकुटिया लगा देखने
पीछे को यह क्रान्ति सिपाही;
कितना बीहड़, कितना भीषण,
दुर्गम पथ यह तै कर आया !
कहाँ-कहाँ के अमित धूलिकण
निज वसनों में यह भर लाया

र यह
काया;
रु है

विगत काल की, वर्तमान की,
भावी की कुछ सोच रहा है,
चिन्तन-रेखा-खचित भाल से
अपने श्रम - कण पोंछ रहा है !

चलित चित्र-पट-सा आया है
सब अतीत नयनों के आगे,
वह गत, – जिससे जुड़े हुए हैं
सामाजिक जीवन के धागे

बिम्बित हुई समष्टि व्यष्टि में
औ' समष्टि में व्यष्टि समायी,
मानो यों विप्लवकारी ने
अपनी सीमा आज गँवायी;
यों वैयक्तिकता में झलकी
मानो निखिल राष्ट्र की छाया;
मानो दर्पण बन आयी है
विप्लवकारी की कृश काया।

सप्त लक्ष वे ग्राम देश के
वे सब कोट्यावधि नर-नारी–
इस यात्री के दृग् में मानो
चमक उठे हैं बारी - बारी;
ऐसे ग्राम, भरा है जिनमें
अति अगाध अज्ञान भयंकर,
मँडराती हैं जहाँ भूख की
उत्कट ज्वालाएँ प्रलयंकर,

यद्यपि ...
सतत लो... रहा पूति, घृणित अति
...का, कोढ़ दिवस-निशि
तुममें सृज...भरी दुर्गन्ध भयानक,
छिन... जहाँ महामारी है दिशि-दिशि !

निज हतभाग्य राष्ट्र के वे सब
ग्राम समूह कुचैले, मैले,
जन-कृति के उपहास-चिह्न ये,
वे मानव के सदन विषैले;

वे कुरूप अति, वे चिर साक्षी
शताब्दियों के अधःपतन के,
ग्राम बन गये हैं प्रतीक ये
मानव के उपमानव - पन के;

शतयुग - चिता-धूम्र दुर्गन्धित,
सन्तत भस्मक त्रास, रास-रत,—
मानो फैल पड़ा है होकर
लक्ष-लक्ष ग्रामों में परिणत।

राज-मार्ग है कहाँ वहाँ पर ?
वहाँ बनी केवल पगडण्डी,
जिस पर आठों याम नाचती
खप्पर लिये बुभुक्षा - चण्डी !

वह पतली-पतली पगडण्डी,
जिस पर मानव नंगा, भूखा,—
चलता रहता है निशि वासर,
ले अपना मुँह रूखा - रूखा !

बनो हुई हैं टेढ़ी यह
लीकें बैलगाड़ियों काया;
जिन पर झुक आयी हु[illegible] है
झाड़ों और झाड़ियों की भौं :

ग्राम नहीं हैं, ये सदियों की
आहें पुंजीभूत हुई हैं,
मानव की वेदना, व्यथाएँ,
बनकर ग्राम प्रसूत हुई हैं;
रुद्ध श्वास, धरती माता का
मानो उभर उठा है सब तन,
मानो ये हैं चिह्न कि क्षण में
होगा भीषणतम भूकम्पन;
अपनी गहरी लम्बी साँसें
कब तक रोकेगी भू-माता ?
खोया हुआ रहेगा कब तक
यह मानव निज भाग्य विधाता ?

कितनी अगति, विगति यह कितनी,
कितनी जड़ता और विषमता !
है कितनी विडम्बना इनमें,
हाय, यहाँ कितनी अक्षमता ।
इन पर छाये पीर, क़ब्र सब,
भूत, प्रेत, पीपल औ' पत्थर,
एक छींक से ही होते हैं,
ये मानव सभीत अति सत्वर;

यद्यपि ु
सतत लो कर लिया मनुज ने
न्ध - विश्वास-बद्ध-पग;
तुममें सृजन
छिन , गमनशील होकर भी
कहो, क्यों न बन जाये यह अग

गतानुगति - फाँसी की, रस्सी
यहाँ गले में पड़ी हुई है,
और अज्ञता मस्तिष्कों को
यहाँ कुचलती खड़ी हुई है,
मानव क्या देखे अपने को ?
वह कैसे समझे अपने को ?
वह कैसे विच्छिन्न करे निज
दुर्दम मोह-तिमिर - सपने को ?
पन्थ संकुचित, दृष्टि संकुचित,
क्षितिज और आकाश संकुचित,
हृदय और मस्तिष्क संकुचित,
सकल विचार-विकास संकुचित ।

यहाँ लुट चुकी है शतियों से
मानव की प्रकाश की थाती,
तम ही तम है यहाँ, बुझी है
जब से हृदय - दीप की बाती;
सभी अँधेरे में टटोलते
और भड़भड़ाते फिरते हैं;
उठना कैसा वहाँ, जहाँ पर
मानवगण क्षण - क्षण गिरते हैं ?

र यह
काया;
ल है

जितना सघन अँधेरा है इन
ग्राम्य जन - गणों के अन्तर में,
उतना तम तो नहीं मिलेगा
तारकहीन गहन अम्बर में !

लगता है, मानव हृदयों के
दीप बुझे ना जाने कब से !
ना जाने अभिशाप-वज्र कब
गिरा भूमि पर ऊँचे नभ से !

दिनचर मानव बना निशाचर,
लुप्त हुई है वह लौ जब से,
यह, इस भूमि-खण्ड का मानव,
बन आया है पशु सम तब से !

कैसी प्रगति ? ऊर्ध्वगति कैसी,
जब जन बैल बने घानी के ?
कहाँ पन्थ-दर्शन ? मिच जायें
जब लोचन मानव प्राणी के !!

आज क्रान्तिकारी के दृग् में
ऐसे ग्राम और ऐसे जन, —
झलक उठे हैं संग - संग ही;
चिन्तन - रंग रँगे हैं लोचन !

यह धरती का पूत विप्लवी;
यह विद्रोही पथिक चिरन्तन,
यह भी है उन ग्रामों का सुत
जिनमें है इतना अन्धापन;

यद्यपि ...
सतत लो...
...के हैं इसके दृग् में
तुममें सृजनअन्त जागृति-ज्योतिष्कण,–
छिन... फिर, यह विद्रोह-प्रचारक
क्यों निराश हो ! क्यों हो उन्मन ?

उन ग्रामों में, जिनमें जीवन
नित-प्रति कीचड़ में सड़ता है, –
वहाँ, जहाँ दिन-रात मृत्यु का
काँटा जोवन में गड़ता है,–
वहाँ, जहाँ अज्ञान तमिस्रा
इतनी शतियों से छायी है, –
जहाँ अन्धविश्वास - भावना
पोत रही तम की स्याही है, –
अरे, वहाँ के कुछ सपूत, जो
जूझ रहे हैं समरांगण में !
तब फिर, क्या चिन्ता ! कैसा भय?
क्यों आये शैथिल्य चरण में !

जो निकले हैं घर से करने
अभिनव मानवता का सिरजन,–
जो निकले हैं घर से, गढ़ने
मानव का नव सामाजिक-तन,–
उन्हें मिला है महत् कर्म का
यह सन्देश कठोर, भयंकर !
क्रान्ति वरण करने वालो, है–
अति प्रलयंकर क्रान्ति स्वयंवर !

र यह
काया;
है

कुशल विप्लवी शब्द-जाल में
नहीं फँसेगी क्रान्ति कुमारी,
कुछ उच्छिष्ट मन्त्र जपने से
हो न सकेगी क्रान्ति तुम्हारी !!

वीर क्रान्तिकारी मुसकाया
सुनकर महाकाश - वाणी यह,
और गरज उट्ठा कि सत्य ही
है दुरूह मानव प्राणी यह;
अपना, अपने इतिहासों का,
करके अति मन्थन सपरिश्रम,
निज दुरूहता सरल बनाने
का करता है सतत उपक्रम !
एक सूत्र में अटकाता है
अपनी सकल ऐतिहासिक गति,
किन्तु, हारकर रह जाती है
उसकी प्रबल चमत्कारिक मति !

यह श्रेणी-संघर्ष मात्र ही
मानव का इतिहास नहीं है;
यह पदार्थवादिता मात्र ही
जन का श्वासोच्छ्वास नहीं है;
निपट आधिभौतिक द्वन्द्वात्मक
विश्व-नियम-शृंखला नहीं है,
क्या जड़ता बन सकी निरन्तर
जीवन-कटि-मेखला कहीं है ?

यद्यपि तु
सतत लो ...न्दों में न अँटेगी
तुममें सृजनोन्मुखी मानवी लीला,
छिन... खूँटी पर अटक सकेगा
कैसे जन-इतिहास हठीला ?

जिन-जिन ने मानव को समझा
संवेदन की एक इकाई,
उन-उन की बलवती बुद्धि ने
यहाँ सदा ही ठोकर खायी;
जो समझे कि मनुज-लीलाएँ
अर्थवादिता की हैं माया,–
जो समझे कि मनुज की कृतियाँ
हैं बस कामुकता की छाया,–
जो समझे कि मनुज है केवल
निपट आधिभौतिक सुखवादी,–
उनने सम्प्रदायवादों में
मानव की सुबुद्धि उलझा दी !

आज क्रान्ति का शंख बज रहा !
क्यों न संकुचितता जन त्यागें ?
क्यों न आज मत-मतान्तरों के
लघु विचार जन-मन से भागें ?
इस मानव-समाज का अभिनव
सृजन-भार ले आये जो जन,–
उनके नयनों में क्यों छाये
मतवादों का दुर्दम तम घन ?

क्रान्ति वरण करने वाले सब
क्यों न बढ़ें मिल-जुलकर आगे ?
क्यों न आज मानव-हृदयों में
अनिंगिता नूतन लौ जागे ?

हाँ, आवश्यक है विप्लव के
लिए तत्त्व-सिद्धान्त-समुच्चय;
पर, वह ऐसा क्यों हो जिसका
शताब्दियाँ न कर सकीं निर्णय ?

जड़-चेतन की, आत्म-तत्त्व की,
ऊहापोह करे क्यों कोई ?
इसके चिन्तन में मानव ने
युग-युग की दिन-रातें खोयीं !

जन-जागृति का भार पड़ा है
आज क्रान्तिकारी के सिर पर,
कठिन, दुरूह समस्याओं को
तब वह क्यों देखे फिर-फिरकर ?

आस्तिक जन भी तो होते हैं
अति प्रलयंकर विप्लवकारी,
औ' जड़वादी भी होते हैं
अति विकराल क्रान्ति-ध्वज-धारी;

तब फिर, क्यों आपस का झगड़ा ?
क्यों आपस की खैंचातानी !
सामर्थ्यों का दुरुपयोग क्यों ?
तब क्यों यह इतनी मनमानी ?

यद्यपि तुम
सतत लोक-
कह रहा हूँ मैं, सुन लो,
तुममें सृजन-क्रान्तिकारी मेरे जन,–
छिन दरसाद में मिल जाओगे तुम
यदि न किये परिवर्तित निज मन !

आज तुम्हारे ऊपर कितना
है महान् दायित्व, निहारो !
तुम्हें विनाश और सिरजन का
करना है यह काज, विचारो !
इन चालीस कोटि मुरदों में
प्राण फूँकने तुम आये हो;
नवल जागरण और संगठन
का सन्देश तुम्हीं लाये हो;
अपनी एक क़तार बना लो
दृढ़ निश्चयी, बढ़ो तुम आगे,
ऐसे बढ़ो कि तुम्हें देखकर
यह शताब्दियों का भय भागे !

क्या जीवन ? क्या मौत, बहादुर !
धूप-छाँह क्या ? क्या दिन-रातें !
क्या प्रकाश औ' अन्धकार यह ?
दुख-सुख की अब क्या ये बातें !
तात्कालिक असफलता क्या है ?
है यह तो बस आनी-जानी !
लखो दूर पर, क्रान्ति-सफलता
विहँस रही है चिर कल्याणी !

ये लाखों देहात तुम्हारे,
अरे करोड़ों ये तव जन-गण,
जोह रहे हैं पन्थ तुम्हारा,
और कर रहे हैं आवाहन !

शोषण की लपलपा रही है
यह जिह्वा शोणित की प्यासी;
रक्तलुब्ध किटकिटा रही हैं
उसकी डाढ़ें सत्यानासी;
शोषण - मुख में तड़प रहे हैं
अरे तुम्हारे कोटि - कोटि जन,
दो सन्देश ! बने शत-शत जन,
उनका एक-एक शोणित - कण !
कहो आज : जागो, हे जागो,
जागो हे सोये प्रलयंकर,
जागो मेरे भूतनाथ जन,
जागो हे मेरे शिव - शंकर !!

जागो, एक क़तार बना लो,
जीभ खींच लो इस शोषण की,
तोड़ो डाढ़ें, करो इति श्री
तुम मिलकर निज उच्छोषण की;
करो सृजन अभिनव जगती का
नव-नव सामाजिक संहति का;
मानव हो विमुक्त, ऐसा हो
शुद्ध प्रयोग तुम्हारी मति का;

यद्यपि तुम
सतत लोक-
करो निज बाह्य परिस्थिति
तुममें सृजन-श करो अन्तस्तल अपना,
छिन दरसाव जागो, मेरे मानव,
फिर न आ सके दुख का सपना !

जागो, ओ सब मेरे मानव,
जागो मेरे सोने वालो,
जागो, दुःस्वप्नों के भय से
तुम निज नयन भिगोने वालो,
जागो, ओ अपने अतीत का
उज्ज्वल गौरव खोने वालो,
जागो, निज आकांक्षाओं के
नित शत-शत शव ढोने वालो !
जागो, मेरे मानव, जिनके
हाथ - पाँव हैं सूखे - सखे,
जागो नरकंकाल करोड़ों,
जागो, मेरे नंगे - भूखे !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ मार्च, १९४४

■

विद्रोही

हम ज्योति पुंज दुर्दम, प्रचण्ड,
हम क्रान्ति-वज्र के घन प्रहार,
हम विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हम गरज उठे कर घोर नाद,
हम कड़क उठे, हम कड़क उठे,
अम्बर में छायी ध्वनि-ज्वाला,
हम भड़क उठे, हम भड़क उठे !

हम वज्रपाणि, हम कुलिशहृदय,
हम दृढ़ निश्चय, हम अचल, अटल,
हम महाकाल के व्याल रूप,
हम शेषनाग के अतुल गरल !

हम दुर्गा के भीषण नाहर,
हम सिंह-गर्जना के प्रसार,
हम जनक प्रलय-रण-चण्डी के,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हमने गति देकर चलित किया
इन गतिविहीन ब्रह्माण्डों को,
हमने ही तो है सृजित किया
रज के इन वर्त्तुल भाण्डों को;

यद्यपि तुम
सतत लोक-स

तुममें सृजन-श
छिन दरसावत

हमने नव सृजन-प्रेरणा से
छिटकाये तारे अम्बर में,
हम ही विनाश भर आये हैं
इस निखिल विश्व-आडम्बर में;
हम सृष्टा हैं, प्रलयंकर हम,
हम सतत क्रान्ति की प्रखर धार—
हम विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हमने अपने मन में की 'हाँ !'
औ' प्रकृति नर्त्तकी नाच उठी !
हमने अपने मन में की 'ना !'
औ' महा प्रलय की आँच उठी !
जग डग-मग-डग-मग होता है
अपने इन भृकुटि-विलासों से,
सिरजन, विनाश, होने लगते
इन दायीं-बायीं श्वासों से;
हम चिर विजयी; कर सका कौन
हठ ठान हमारा प्रतीकार ?
हम विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

अपने शोणित से ऊषा को
हम दे आये कुंकुम - सुहाग,
आदर्शों के उद्दीपन से
हमने रवि को दी अमित आग;

माटी भी उन्नत - ग्रीव यह
जब नव चेतनता उठाया;
जीवन - रँग फैला, जब है,
खेली प्राणों की रक्त फाग,
हो चला हमारे इंगित पर
जग में नव जीवन का प्रसार,
हम जनक प्रलय-रण-चण्डी के,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हो गयी सृजित संगीत कला,
हमने जो छेड़ी नवल तान
उन्मुक्त हो गये भाव - विहग
जो भरी एक हमने उड़ान;
हमने समुद्र - मन्थन करके
भर दिये जगत् में अतुल रत्न,
संसृति को चेरी कर लाये
अनवरत हमारे ये प्रयत्न !
संस्कृति उभरी, लालित्य जगा,
सुन पड़ी सभ्यता की पुकार,
जब विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
बढ़ चले मार्ग पर दुर्निवार !

हम 'अग्ने ! नय सुपथा राये···' का
अनल - मन्त्र कह जाग उठे,
हम मोह, लोभ, भय, त्रास, छोह,
सब त्याग उठे, सब त्याग उठे,

यद्यपि तुम
सतत लोक-

तुममें सृजन-श
छिन दरसाव

हम आज देखते हैं जगती,
यह जगती, यह अपनी जगती,–
यह भूमि हमारी विनिर्मिता,
शोषिता, परायी - सी लगती !

रवि - निर्माताओं के भू पर,
बोलो, यह कैसा अन्धकार ?
क्या निद्रित थे हम अति कोही,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

क्या अन्धकार ? हाँ अन्धकार !
याँ अन्धकार !! वाँ अन्धकार !!
है आज सभी दिशि अन्धकार;
हैं सभी दिशा के बन्द द्वार;

ज्योतिष्पुंजों के हम स्रष्टा,
हम अनल - मन्त्र के छन्द - कार,
इस दुर्दम तम को क्यों न दलें ?
हम सूर्यकार, हम चन्द्र - कार !

आओ, हम सब मिलकर नभ से
ले आयें रवि - शशि को उतार !!!
हम विप्लव - रण-चण्डिका - जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

चेतन ने जब विद्रोह किया,
तब जड़ता में जीवन आया;
जीवन ने जब विद्रोह किया
तब चमक उठीं कंचन - काया;

यह जो विकास, उत्क्रमण, यह
प्रकटी जीवन के हिय - छाया;
वह है केवल विद्रोह है,
जो खिल उठती है पल-पल म...
तब, बोलो, हम क्यों सहन करें
दुर्दान्त तिमिर का अनाचार ?
हम विप्लव - रण - चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हम खण्ड-खण्ड कर चुके गर्व
अतुलित मदमत्त करोड़ों का;
है इतिहासों को याद हमारा
भीम प्रहार हथौड़ों का !
आ चुके अभी तक कई - कई
घनघोर सूरमा बड़े - बड़े,
जा लखो, हमारे प्रांगण में
उनके हैं बस कुछ ढूह खड़े !
है इतिहासों को भी दूभर
उनके साम्राज्यों का विचार,
उनके आगे टिक सका कौन,
जो हैं विद्रोही दुर्निवार !

हमने संस्कृति का सृजन किया,
दुष्कृतियों को विध्वस्त किया,
कुविचारों के चढ़ते रवि को
इक ठोकर देकर अस्त किया !

यद्यपि तुम
सतत लोक-
हम काल - मेघ बन मँडराये,
हम अशनि - कुलिश बन-बन गरजे,
तुममें सृजन-श
छिन दरसाव
सुन - सुन घनघोर निनाद भीम
अत्याचारी जन - गण लरजे;
अब आज, निराशा - तिमिर देख,
लरजेंगे क्या हम क्रान्तिकार ?
हम विप्लव - रण-चण्डिका - जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

सोचो तो कितना अहोभाग्य,—
आ पड़ा हमीं पर क्रान्ति - भार !
इस अटल ऐतिहासिकता पर,
हम क्यों न आज होएँ निसार ?
यह क्रान्ति-काल, संक्रान्ति - काल,
यह सन्धि - काल युग-घड़ियों का,
हाँ ! हमीं करेंगे गठ-बन्धन,
युग - ज़ंजीरों की कड़ियों का !
हम क्यों उदास ? हों क्यों निराश ?
जब सम्मुख हैं पुरुषार्थ - सार ?
हम विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हम घर से निकले हैं गढ़ने
नव चन्द्र, सूर्य, नव-नव अम्बर,
नव वसुन्धरा, नव जन-समाज
नव राज-काज, नव काल, प्रहर !

दिक्-काल नये, दिक्-पा[illegible]रें यह
सब ग्वाल नये, सब न[illegible] काया;
हम सिरजेंगे ब्रज भूमि[illegible]ल है
गोपियाँ नयी, गोपाल नये !

क्यों आज अलस-भावना जगे,
जब आये हम हिय धैर्य धार ?
हम विप्लव - रण- चण्डिका- जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

मानव को नयी सुगति देने,
मानवता को उन्नत करने
हम आये हैं नर के हिय में,
नारायणता की द्युति भरने;
यह अति पुनीत, यह गुणातीत,
शुभ कर्म हमारे सम्मुख है;
तब नीच निराशा यह कैसी ?
कैसा सम्भ्रम ? अब क्या दुख है ।
तिल - तिल करके यदि प्राण जायँ
तब भी क्यों हो हिय में विकार ?
हम विप्लव-रण-चण्डिका-जनक,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

यह काल, लौह लेखनी लिये,
लिखता जाता है युग पुराण;
हम सब की कृति-निष्कृतियों का
उसको रहता है ख़ूब ध्यान;

यद्यपि तुम
सतत लोक-

तुममें सृजन-श
छिन दरसाव

इस ध्रुव इतिहास-सुलेखक को
कैसे धोका दें हम, भाई ?
इससे बचने का, अपने को
कैसे मौक़ा दें, हम भाई ?

मौक़ेबाज़ी न चलेगी याँ,
यह ख़ाला का घर नहीं; यार,
है महाकाल निर्दय लेखक,
यह है विद्रोही दुर्निवार।

यह काल, लेखनी डुबो रहा
अमरों की शुभ शोणित - मसि में,
औ' उधर चढ़ रहा है पानी
उन निर्मम बधिकों की असि में !

क्यों सोचें, कब कुण्ठित होगी
निर्दय, असि की यह प्रखर धार ?
बचने की क्यों हो आतुरता ?
क्यों टूटे यह बलि की क़तार ?

यदि हम डूबें इस मृत्यु - घाट,
तो पहुँचेंगे उस अमर पार !
क्या भय ? क्या शोक-विषाद हमें ?
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हम रहे न भय के दास कभी
हम नहीं मरण के चरण - दास;
हमको क्यों विचलित करे आज
यह हेय प्राण - अपहरण - प्रास ?

माना कि लग रहा है यह
मानो प्रकाश है बहुत्काया;
तो क्या इस दुश्चिन्ता है
होगा तम का गढ़ चूर-चूर

हम क्यों न करें विश्वास कि यह
टिक नहीं सकेगा तम अपार ?
हम महा प्राण, हम इक उठान,
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

अपने ये सब बीहड़ जंगल,
अपने ये सब ऊँचे पहाड़,–
इक दिन निश्चय हिल डोलेंगे,
सिंहों की-सी करके दहाड़ !

उस दिन हम विस्मित देखेंगे
यह निविड़ तिमिर होते विलीन,
उस दिन हम सस्मित देखेंगे :
हम हैं अदीन, हम शक्ति-पीन !!

उस दिन दुःस्वप्नों की स्मृति-सा
होगा बधिकों का भीम भार
उस दिवस कहेगा जग हमसेः,
तुम विद्रोही, तुम दुर्निवार !

हम क्यों न करें विश्वास कि ये
नंगे - भूखे भी तड़पेंगे ?
धूएँ के छितरे बादल भी,
कड़केंगे, हाँ ये कड़केंगे !

यद्यपि तुम
सतत लोक-

तुममें सृजन-श
छिन दरसाव

जम कर होंगे ये भी संयुत,
ये भी बिजलियाँ गिरायेंगे;
अपने नीचे की धरती का
ये भी सन्ताप सिरायेंगे;
ये भी तो इक दिन समझेंगे
अपने भूले सब स्वाधिकार;
उस दिन ये सब कह उट्ठेंगे:
हम विद्रोही, हम दुर्निवार !

हम कहते हैं भीषण स्वर से
मत सोच करो, मत सोच करो;
लख वर्तमान नैराश्य अगम,
अपने हिय को मत पोच करो;
तुम बहुदर्शी, तुम क्रान्ति-पथी,
तुम जागरूक, तुम गुडाकेश,
तुमको कर सका कभी विचलित
क्या गेह-मोह ? क्या शोक क्लेश ?
देखी है तुमने क्षणिक जीत,
अविचल सह जाओ क्षणिक हार !
तुम विप्लव - रण-चण्डिका-जनक,
तुम विद्रोही, तुम दुर्निवार !!

डिस्ट्रिक्ट जेल, उन्नाव
१२ अप्रैल, १९४३

सुनो, सुनो ओ सोने वालो !

सुनो, सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव स्वर –
जिनसे आज तरंगित है यह
अपना अति विस्तृत अम्बर ।
स्वयं प्रलय - वीणा अपने ही
आप अनाहत गूँज उठी ;
और तन गयी महाकाल की
लय - उद्भव - कारी भृकुटी;
आज वायु की प्रति तरंग में
अमित स्वरों की भीर जुटी;
अब भी क्या न स्वर भरित होंगे
सुप्त तुम्हारे कर्ण - कुहर ?
सुनो, सुनो ओ सोने वालो
जागृति के ये भैरव स्वर !

वीणा बजी, स्वरावलि उभरी,
दशों दिशाएँ नाच उठीं;
अम्बर से पृथिवी तक सहसा
विप्लव-स्वर की आँच उठी;
सभी जातियाँ इस प्रकाश में
अपनी भावी बाँच उठीं;
तुम कैसे हो जो कि आज भी
नहीं रहे हो रंच सिहर ?
सुनो, सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव - स्वर !

यद्यपि तुम
सतत लोक-
और खलिहान तुम्हारे;
तुममें सृजन-श ये पहाड़, जंगल, उपवन, –
छिन दरसावदियाँ, ये ताल सरोवर,
गाते हैं विप्लव - गायन !
उत्तर में गा रहा हिमाचल;
दक्षिण में वह सिन्धु गहन;
सभी गा रहे हैं : लो आया
यह लोहित जागरण - प्रहर !
सुनो, सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव - स्वर !

गंगा गाती कल - कल ध्वनि में
भावी के कल की बातें,
यमुना गाती है कल-कल-कर
कि अब गयीं कल की रातें;
साबरमती गरज कर बोली :
अब कैसी निशि की घातें !
दिन आया, अपना दिन आया,
यों गाती है लहर - लहर;
सुनो - सुनो, ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव - स्वर ।

उत्तर से दक्खिन, पूरब से
पच्छिम तक तुम एक, अरे,
भेद-भाव से परे एक ही
रही तुम्हारी टेक, अरे;
एक देश है; एक प्राण तुम;
तुम हो नहीं अनेक, अरे !

खोलो निज लोचन, देखो यह [illegible]रें यह
खिली एकता ज्योति काया;
[illegible]ल है
सुनो, सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव स्वर!

इस क्षण भी यदि तुम न उठ सके
तो इतिहास कहेगा क्या ?
सोचो तो, यह भाग्य तुम्हारा,
चिर उपहास सहेगा, क्या ?
यह अनुकूल पवन का झोंका
फिर भी कभी बहेगा क्या ?
अपने हाथों क्यों खोदो हो
तुम अपनी ही आज क़बर ?
सुनो, सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के यह भैरव स्वर।

शतियों से नदियाँ इस भू की
गरज रही हैं क्रोध-भरो !
शतियों से सागर की लहरें
गरज रहीं प्रतिशोध-भरी !
यह वृद्धा पृथिवी माता भी
गरज रही है, गोद-भरी !
बस, तुम ही भूले हो अपनी
विकट गर्जना प्रलयंकर;
गरजो, सोने वालो, गाओ,
जागृति के ये भैरव स्वर !

यद्यपि तुम
सतत लोक-
तंद्रा, लो अँगड़ाई;
तुममें सृजन-श आज शृंखलाएँ तोड़ो,
छिन दरसावर्तवत की होड़ - दौड़ में
आओ तुम भी तो दौड़ो!
समता के तारे की गति से
अपनी रथ - गति तुम जोड़ो;
तोड़ो इस शोषण की दाढ़ें;
अब सम्मुख है विकट समर,
सुनो, सुनो ओ सोने वालो,
जागृति के ये भैरव स्वर!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२९ जुलाई, १९४३

जूठे पत्ते

क्या देखा है तुमने नर को नर के आगे हाथ पसारे?
क्या देखे हैं तुमने उसकी आँखों में खारे फ़व्वारे?
देखे हैं? फिर भी कहते हो कि तुम नहीं हो विप्लवकारी?
तब तो तुम हिंजड़े हो, या हो महा भयंकर अत्याचारी!

अरे चाटते जूठे पत्ते जिस दिन मैंने देखा नर को
उस दिन सोचा: क्यों न लगा दूँ आज आग इस दुनिया-भर को?
यह भी सोचा: क्यों न टेंटुआ घोंटा जाय स्वयं जगपति का?
जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृति का।

जगपति कहाँ ? अरे, सदियों से वह तो हुआ [illegible] यह
वरना समता-संस्थापन में लग जाती क्या [illegible] काया;
छोड़ आसरा अलख शक्ति का; रे नर, स्वयं ज[illegible]ल है
तू यदि जूठे पत्ते चाटे, तो तुझ पर लानत है,

कैसा बना रूप यह तेरा, घृणित, पतित, वीभत्स, भयंकर !
नहीं याद क्या तुझको, तू है चिर सुन्दर, नवीन प्रलयंकर ?
भिक्षा-पात्र फेंक हाथों से; तेरे स्नायु बड़े बलशाली,
अभी उठेगा प्रलय नींद से, तनिक बजा तू अपनी ताली ।

ओ भिखमंगे, अरे पराजित, ओ मज़लूम, अरे चिरदोहित,
तू अखण्ड भाण्डार शक्ति का; जाग, अरे निद्रा - सम्मोहित,
प्राणों को तड़पाने वाली हुंकारों से जल-थल भर दे,
अनाचार के अम्बारों में अपना ज्वलित फ़लीता धर दे ।

भूखा देख तुझे गर उमड़े आँसू नयनों में जग - जन के,–
तो तू कह दे : नहीं चाहिए हमको रोने वाले जनखे;
तेरी भूख; असंस्कृति तेरी, यदि न उभाड़ सकें क्रोधानल,–
तो फिर, समझूँगा कि हो गयी सारी दुनिया कायर निर्बल ।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
३१ जुलाई १९३७, अर्धरात्रि

यद्यपि तुम र
सतत लोक-र

तुममें सृजन-श
छिन दरसावत

गहन तमिस्रा की परिखा

हाँ ! हाँ !! जग में खुदी हुई है गहन तमिस्रा की परिखा,
फिर भी यह गभीर तम-गह्वर पार करेगी ज्योति-शिखा !

आज दानवी मद गरजा है गहर तिमिर आवृत होकर,
फूला नहीं समाता है वह इस तम में निज को खोकर;
ध्वान्त-दुर्ग में आज हो रहा आसुर भावों का गर्जन;
वहाँ हो रहा है क्षण-क्षण में पैशाचिकता का सर्जन;
अन्त हो गया है मानो अब मानवता की सद्गति का,
दनुजों ने जग में खोदी है गहन तमिस्रा की परिखा !

तैयारियाँ हो रही हैं ये चिर प्रकाश दफ़नाने की,
आज कोशिशें हैं जग-भर की दीपावली बुझाने की;
उन्मत्ता राक्षसी भावना मँडराती फुफकार रही;
चले जा रहे हैं बुझ - बुझकर, अयुत दीप उस पार कहीं !
सूना हुआ सिंहासन क्या निखिलेश विभा - पति का ?
खुदी हुई है जग में कैसी घोर तमिस्रा की परिखा ?

आज निशाचर खूब मस्त हैं, बड़े मगन हैं वे मन में,
समझे हैं कि रहेगा तम नित नभ, जल, थल, वन, उपवन में !
चिर प्रकाश के घन - प्रहार को भूल गये हैं ये तमचर,
इनने सोचा है कि रहेगा बस तम ही तम जम - जम कर !
ऐसा सोचें क्यों न ये कि जब दिशि-दिशि है तम की परिखा ?
इन्हें क्या पता कि है चिरन्तन मानव-मन की ज्योति-शिखा ?

मानव, अरे ज्योति - संरक्षक, ओ वैश्वान[illegible]रे यह
ओ प्रकाश के दीप्त विधायक, ओ अरुणाक[illegible] काया;
जाग - जाग, तम मय दानवता आज तुझे ल[illegible] है,
लख, उसके नासा - रन्ध्रों से, घृणा - गरल की धा[illegible]
स्ववश कर सकेगी क्या तुझको यह अश्लील अनागरिका ?
दिखला दे इसको, कि चिरन्तन है मानव की दीप - शिखा !

ये दानवता के मदमाते सर्वनाश की सोच रहे,
सत्य, न्याय, करुणा, सहृदयता, सब का गला दबोच रहे;
मत हिय हार, अरे ओ मेरे मानव, तू ललकार इन्हें;
अपने भस्मक तेज - पुंज से कर दे क्षण में क्षार इन्हें !
गर्व खर्व कर दे इस तम का, आ, तू अपनी ज्योति दिखा,
हाँ ! जग भी कह उठे कि सन्तत है मानव की दीप-शिखा !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२२ अगस्त, १९४४

■

ओ तुम अविचल वीर !

मेरे साथी, ओ तुम मेरे सह-सैनिक नित धीर,–
बाणों की वर्षा में भी तुम अडिग, अचल, ओ वीर,–
ताल ठोंककर किया निमन्त्रित रण में तुमने काल ।
कब विचलित कर सकी तुम्हें यह कारा की प्राचीर ?

आज करे क्यों तुमको विचलित, यह विचार-संघर्ष ?
संघर्षों में ही काटे हैं तुमने जीवन-वर्ष;

यद्यपि तुम र
सतत लोक-
ी तो बहती ही है जीवन में वायु;
तुममें सृजन-श हो चिन्ता, यदि है निश्चल तव आदर्श ?
छिन दरसावत

ीवन-चँदुवे में है अगणित नव रंगों का मेल,
उसमें रंग-बिरंगे बूटे, रंग-बिरंगी बेल;
क्यों चाहो कि बने इक-रंग यह बहु-रंग वितान ?
सदा रहेगा जीवन का तो रंग-बिरंगा खेल !

जीवन तो प्रपूर्ण होता है बनकर नाना रूप,
'एकोऽहं; बहुस्याम !!' यही है जीवन-मन्त्र अनूप !
द्वैत रूप धारण करता है जब चेतन अद्वैत,—
तब तो आयेगी ही सम्मुख कुछ छाया, कुछ धूप !

अपने, अन्य साथियों के, लख निज से भिन्न विचार,—
क्यों अकुलाते हो ? होते ही क्यों विह्वल तुम, यार ?
जीवन का समुद्र-मन्थन तो होगा ही दिन-रैन;
उससे कभी गरल निकलेगा, कभी अमी-रस-धार !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२५ अप्रैल, १९४४

■

कमला नेहरू की स्मृति में

देवि, इतने ही दिनों का क्या यहाँ आवास था यह ?
कौन जल्दी थी ? अभी तो शेष कुछ मधुमास था यह ।

तोड़कर उस शृंखला को जो पड़ी थी मृदुल ... रे यह
राजहंसिनि, उड़ चलीं इतनी सुबह अज्ञेय काया;
हो गये सम्पूर्ण क्या तव काज सब इस अनित ल... है
चिर महा अभिनिष्क्रमण का कौन-सा उल्लास था ...

आत्म - आहुति के ज्वलित ये खेल तुमने ख़ूब खेले;
हन्त ! शुचि आदर्श के हित कौन दुख तुमने न झेले ?
लो, तुम्हारे स्वप्न-द्रष्टा प्राण-प्रिय अब हैं अकेले;
सुमुखि, इतने ही दिनों का क्या तुम्हें अवकाश था यह ?

देवि, क्या उस पार गूँजी कान्ह की रमुली सलौनी ?
या कि क्रीड़ौत्सुक्य मिस खेली जगत् से दृग-मिचौनी ?
आज अनहोनी हुई ऐसी, कभी जो थी न होनी;
और कुछ दिन तो रहोगी तुम, हमें विश्वास था यह ।

कौन थीं तुम एक कोमल कल्पना-सी, निठुर जग में ?
कौन थीं तुम सुमन-पँखुरी-सी, विषम इस नियति मन में?
कौन थीं तुम भक्ति-सी, नित नेह के हिय चिर-बिलग में ?
कौन थीं? किस देश की थीं ? तव विचित्र निवास था वह !

निराशा-सिकता - कुपथ में अश्म - रेखा-सी सुअंकित–
वायु-झम्पन में धवल-से हिम-शिखर-सी तुम अशंकित,–
निपट अँधियारे गगन में ज्योति-रेखा-सी अकम्पित,–
आज, प्राणायाम का क्या आख़िरी निःश्वास था यह ?

श्री गणेश कुटीर, कानपुर
१८ मार्च, १९३६

■

यद्यपि तुम ...
सतत लोक-...

तुममें सृजन-श...
छिन दरसावत...

मन्द ज्योति

..., धीमी पड़ रही आज मेरे प्रदीप की बाती,
शायद लुट जाये यह मेरी मुसाफ़िरी की थाती !

पथ सुनसान, कँटीला, टेढ़ा, पथरीला, अज्ञात,
मंज़िल लम्बी, भ्रमित पथिक, मग में छायी चिर रात;

शिशिल गात, हो रहे अनेकों विकट घात-प्रतिघात,
किससे कहे मुसाफ़िर अपने मन की आकुल बात ?

कुसमय में लप-झप करने लग गयी ज्योति अकुलाती,
प्रिय, धीमी पड़ रही आज मेरे प्रदीप की बाती !

तुम प्रकाशपति, तुम दिन-मणि-पति सतत-सनातन ज्योतिपते !
संशय-दाहद अनल-प्रवाहक, हे जगपावक अग्निमते !
निज प्रचण्ड किरणांगुलियों से उकसा दो मेरी बाती,
फिर से इसे बना दो प्रिय तुम अग्नि-अरुण-धुन मदमाती ।

डिस्ट्रिक्ट जेल, बरेली
२६ जनवरी, १९३३

■

यह है विप्लव का पथ, भाई

यह है विप्लव का पथ, भाई,
इस मारग में तुम्हें मिलेंगी कई नयी कलियाँ मुरझायीं
यह है विप्लव का पथ भाई ।

इस मारग में पड़े हुए हैं सुख की आकां[illegible]रें यह
इस मारग में वैयक्तिक सब मनुहारें कर[illegible] काया;
इस मारग में सहयात्री हैं शोणित-स्वेद-सिक्त [illegible]ल है,
इस मारग में फैल रही हैं चिर महाभिनिष्क्रमण - [illegible]
यह है विप्लव का पथ, भाई।

नव यौवन के सरस मनोरथ, मधु निशि के मदमाते सपने,
निपट पराये-से हैं ये अब, जो थे जीवन - संगी अपने;
हम भी कुछ खो गये लगा जब विप्लव-रव से अन्तर कँपने;
आया वह क्षण, जब नवयुग की लगी क्रान्ति से स्नेह-सगाई;
हम आये विप्लव-पथ, भाई।

झाँझें बजीं मृदंगें गूँजीं, घण्टे घनक उठे घन - घन - घन,
शंख बजे, नक्कारे गरजे, अम्बर में भर गया तुमुल स्वन;
जब स्वयंवरा क्रान्ति पधारी करते निज वरमाला अर्पण,—
उस क्षण इस युग के नयनों में प्रलयंकरी लालिमा छायी !
यों फैला विप्लव-रँग, भाई।

जब इस युग का हुआ क्रान्ति के ज्वालामय पट से गठ-बन्धन
तब दिग्वधुएँ नाच उठीं सब, हुआ धूलि कण-कण में स्पन्दन;
नाचा महत् कर्म जन-रंजन, शोषण-भंजन, भीति निकन्दन;
चालित हुए हमारे पग भी, हमने भी लकुटिया उठायी;
हम आये विप्लव पथ, भाई।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२३ जून, १९४३

■

यद्यपि तुम
सतत लोक-

तुममें सृजन-श
छिन दरसावत

मेरे अतीत की ज्योति-लहर

...मेरे साये सपनो, बन-ठन उठ आओ निखर - निखर,
लहरो मेरे अम्बर में, ओ मेरे अतीत की ज्योति लहर !

ओ, मेरे उज्वल विगत काल,
ओ मेरे बल - विक्रम - निधान,–
ओ, विश्व - विजन - हुंकार भरे
मेरे प्रचण्ड जग - मग विहान,–
ओ तुम, जो करते हो मेरा
आनन्त्य - प्रहर से गठ - बन्धन,–
जिसके कारण नित्यता अमर
करती है मेरा अभिवन्दन,
ओ मेरे वही व्यतीत, विगत,
भर दो तुम मेरा अन्तरतर,
लहराओ मेरे मानस में
मेरे अतीत की ज्योति-लहर ।

है रमा हुआ जो विगत काल
इस भारत के रज-कण-कण-कण में,–
लहराता है जो नित मेरे
जन-गण के शोणित-नर्तन में,–
जिसकी महिमा के साखी हैं
मेरे पहाड़, मेरे जंगल,–
मेरी नदियाँ जिसकी गाथा
गाती रहती हैं कल-कल-कल,

हाँ वही विगत ज्योतिष्प्रभ कल, [illegible]रे यह
क्यों बने आज विस्मर[illegible] काया;
जागो मेरे सोये सपनो, [illegible] है
बन-ठन आओ तुम नि[illegible]

ध्वंसावशेष ये सब मेरे,
ये मेरे वैभव के प्रतीक,
दिखलाते हैं सारे जग को
मेरे अतीत की प्रगति-लीक;
वह लीक पड़ चुकी है जिस पर
अनगिनत युगों की धूल अमित,
वह लीक, देख करके जिसको
इतिहास हो रहा अमित श्रमित,
देखो, वह अपनी ज्योति-लीक!
यों गरज रहे मेरे खँडहर;
बोले; लहराओ मानस में
अपने अतीत की ज्योति-लहर!

ये मेरे टूटे विजय-स्तम्भ;
ये मेरे सब ऊजड़े खँडहर,
ये खण्डित प्रस्तर-प्रतिमाएँ,
ये शिलालेख, ये स्तूप अमर,
ये गुहा अजन्ता के वासी,
अब तक है जिनकी कान्ति अजर,
ये सब गरजे हैं क्रोध भरे,
अम्बर भी कम्पित है थर-थर,

यद्यपि तुम
सतत लोक-
तुममें सृजन-श
छिन दरसावत

ओ मानव चेतो,
अब क्या चिन्ता ? अब कैसा डर ?
अपने अम्बर में
अपने अतीत की ज्योति-लहर !

तुम कौन ? अरे क्या भूल गये ?
भूले क्या तुम अपना स्वरूप ?
तुम मध्य - एशिया से जाकर
पूछो निज गत गौरव अनूप !
तुम काराकोरम से पूछो,
क्या उसे याद हैं वे ध्रुव - पग ?
जिनने उसके उन्नत शिर पर
आँका मानव संस्कृति का मग ?
तुम जाग उठो, ओ अमृत पुत्र
निज हिय में नव उमंग भर-भर;
लहराओ अपने मानस में।
अपने अतीत की ज्योति - लहर !

तुम अपने सुविगत की गाथा
पूछो वाली से, लंका से,
तुम हिन्द महार्णव से पूछो;
हो क्यों आक्रान्त कुशंका से ?
प्राचीन चीन से तुम पूछो
अपने गत गौरव की गरिमा,
ह्यूएन्थसंग औ’ फ़ाहियान
गा गये तुम्हारी वह महिमा !

अपने इतिहास पुरातन का [illegible] यह
तुम स्मरण करो वह [illegible] काया;
लहराओ अपने अम्बर में [illegible] है
अपने अतीत की ज्योति[illegible]

ओ भारत के जन, तुम भूले
क्या वे उज्वल मंगलमय क्षण ?
जब प्रथम यज्ञ की ज्वाला से
जगमगा उठे थे रज - कण - कण !
थे तुम्हीं कि जिनने पूछा था
'कस्मै देवाय ?' चकित होकर !
थे तुम्हीं कि जिनने गाये थे,
'सोऽहं' के स्वर निज को खोकर !
बोलो तो, है किसका अतीत
इतना उज्वल, इतना हिय - हर ?
लहरी थी तब अम्बर में ही
चिर चिन्मयता की ज्योति - लहर !

वेदों के महामन्त्र द्रष्टा
गुंजित है जिनका अमर नाद,
वे गूढ़ तत्त्वदर्शी योगी,
सिद्धेश कपिल, गौतम, कणाद,
वे महावीर, वे शुद्ध बुद्ध,
मानवता के वे सब त्राता,
उनकी सब की प्यारी जननी
है यही वृद्ध भारत माता !

यद्यपि तुम
सतत लोक

तुममें सृजन-श
छिन दरसावत

तुम्हारी माँ, यह लख
क्या तुम उठते हो नहीं सिहर ?
अपने अम्बर में
अपने अतीत की ज्योति - लहर !

वे व्यासदेव, वे वाल्मीकि,
वे भारवि, वे भवभूति करुण,
धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह,
वे कालिदास नित तरुण अरुण,
बे़ताल भट्ट, वे घटकर्पर,
ज्योतिष आचार्य वराह मिहिर,
वे नागार्जुन, भास्कराचार्य,
जिनने मेटा अज्ञान-तिमिर,
वे मध्व, और वे रामानुज,
वे वल्लभ, वे दिग्गज शंकर,
अब भी जग के नीलाम्बर में
लहराती जिनकी ज्योति - लहर !

मानव ने इस भू पर खोले
सबसे पहले निज हिय - लोचन,
औ' इसी नभ तले तो उसने
सन्देश दिया भव - भय - मोचन;
सबसे पहले इस भू पर ही
चमकीं किरणें ज्ञानोदय की;
ये भवति - न भवति - व्यथाएँ सब
मिट गयीं मनुज के संशय की,

बोलो, कब मेघाच्छन्न हुआ [illegible]रें यह
अति प्रखर तुम्हारा वह [illegible] काया;
लहराती है जग में उसकी [illegible]ी [illegible]ल है
सच्चिानन्द मय ज्यो[illegible]

हो तुम्हीं आदि भैरव गायक,
हो तुम्हीं भैरवी की उठान,
गूँजे थे तब अम्बर में ही
उन प्रथम द्विजों के अरुण गान,
तव नभ में ही तो डोला था
वह सर्व प्रथम जागरण - पवन,
हाँ, तुम्हीं कर चुके हो सबसे
पहले वह अनहद - नाद श्रवण;
अब भी तव नभ में होती है
जागृति के पंखों की फर - फर ।
लहराती है तव अम्बर में,
अब भी अतीत की ज्योति - लहर;

पाकर तव प्रथमासव - प्रसाद
है विश्व आज भी मतवाला;
आनन्द जगत् में जो है, वह
है वह मधु, जो तुमने ढाला !
मत भूलो कि तुम प्रणेता हो
जग में ऐसे आदर्शों के,
जिनको न क्षुण्ण कर पाये हैं
आघात अयुत संघर्षों के !

तुम्हारा यह विशाल
शतियों काँपा है हहर - हहर;
अकम्पित सदा काल
तव प्रखर ज्ञान की ज्योति - लहर !

तुमने देखे कितने उद्भव,
कितने लय, कितने ही विप्लव
इतिहास - प्रभंजन तुमको कब
कर सके विडोलित औ' विक्लव !
तुम तूफ़ानों से खेले हो,
तुम महाक्रान्तियों के स्रष्टा !
तव भू - विलास में नाश-सृजन,
आदर्श अलख के तुम द्रष्टा !
विस्तृत भू - मण्डल भर में तव
सांस्कृतिक ध्वजा है रही फहर !
है लहर रही नभ - मण्डल में
तव शुभ अतीत की ज्योति-लहर !

शतियों ने ली अँगड़ाई तो
तुम बोले एक निमेष हुआ;
जब युग बदले तो तुम बोले
लो इक घटिका का शेष हुआ ।
मन्वन्तर की गणना से भी
कब शेष हुआ तव दिवस मान ?
कब थके तुम्हारे पंख अहो ?
कब टूटा तब कल्पना - यान ?

तुम आदि रहित, तुम अन्त हीन [illegible]रे यह
तुम चिर अकाल, तुम [illegible] काया;
तव अम्बर में है लहर रही [illegible] है
सन्तत अतीत की ज्यो[illegible]

पाहुन बन तव गृह आये हैं
ये महाकाल, ये महाकाश,
इन विकट अतिथियों को तुमने
कब किया निराश्रित औ' निराश ?
आकाश तुम्हारा गोपद है;
है काल तुम्हारा एक चरण !
युग - युग के ये परिवर्त्तन तो
हैं केवल तव निःश्वास - सरण !!
नैराश्य कहाँ ? औदास्य कहाँ ?
है यहाँ कहाँ वह तिमिर गहर ?
है लहर रही तव अम्बर में
सन्तत अतीत की ज्योति-लहर !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२८ दिसम्बर, १९४३

■

ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

ओ तुम मेरे प्यारे जवान
तुम मेरे गौरव मूर्त्तिमान !

यद्यपि तुम स
सतत लोक-स
आशाओं के तुम हो प्रकेत,
तुममें सृजन-शसंघर्षों के तुम चिर - निकेत,
छिन दरसावत सि महानाश के अग्रदूत;
न निर्माणों के तुम निधान,
ओ तुम प्राण तुम मेरे प्यारे जवान !

तुम महाविकट संहार रूप,
तुम सृजन-कुशल नव-नव अनूप,
तुम सदा असुन्दर के बैरी,
चिर सुन्दर के तुम यशोगान;
ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

तुम रुद्र - रूप, तुम प्रलयंकर,
तुम मदन - दहनकारी शंकर,
तुम दृढ़-प्रतिज्ञ, तुम अडिग धीर,
तुम चिर अधिज्य धन्वा महान्;
ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

तुम काल - प्रभंजन परम प्रबल,
तुम जीवन - मलयानिल निर्मल,
तुम पुण्य कर्म-रति अति निरलस,
मधु स्वप्नों के तुम सुरस खान;
ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

आदर्श - पुंज तुम अति प्रचण्ड,
तुम मूर्तिमन्त दृढ़ न्याय-दण्ड,
तुम साम्य-सन्तुलन-भाव अडिग,
तुम नवल कल्पना की उड़ान;
ओ तुम मेरे प्यारे जवान !

तुम क्रुद्ध गभीर विरोध - नाद, [illegible]रे यह
तुमको भीषण लोकापवाद– [illegible] काया;
कब चलित कर सका, बोलो तो [illegible] है,
तव पग में आयी कब थकान–[illegible]
तुम मेरे गौरव मूर्तिमा[illegible]!

सर्वार्पण की उमंग हिय भर,
तुम सिर ले चले हथेली पर;
दुन्दुभी स्वर्ग की गूँज उठी,
नभ में छायी बलिदान - तान;
तुम मेरे गौरव मूर्त्तिमान !

तव बलिदानों की देख लड़ी,
शिवि की गाथा भी मन्द पड़ी;
तव प्राणदान के निकट पड़ा–
फीका दधीचि का अस्थि-दान;
तुम मेरे गौरव मूर्त्तिमान !

लखकर तव कर्मठता अथकित,
है कर्मयोग भी स्वयं चकित,
लख तुम्हें अलिप्त, असंग-भाव–
है स्वयं प्रणत तव सन्निधान;
तुम मेरे गौरव मूर्त्तिमान !

संकुचित स्वार्थ की, यश, धन की
लौकिकता की, या जीवन की,–
यह चाह कभी व्यापी न तुम्हें,
तुम सदा अनिंगित, सावधान,
तुम मेरे गौरव मूर्त्तिमान !

जब मेरे नभ में छाये घन,
वरुद्ध हुई जब ज्योति-किरण,
ब बनकर विकट प्रभंजन तुम
मकाने आये भासमान,
मेरे गौरव मूर्त्तिमान !

अपनी धुन में वन - वन डोले,
रण में जूझे तुम बिन बोले,
तव बलि-वेदी की ज्वाला से,
हो गया विनिर्मित नव-विहान;
तुम मेरे गौरव मूर्त्तिमान !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
६ फ़रवरी, १९४५

■

अरे तुम हो काल के भी काल

कौन कहता है कि तुमको खा सकेगा काल ?
अरे ? तुम हो काल के भी काल अति विकराल ?
काल का तव धनुष; दिक् की है धनुष की डोर;
धनु - विकम्पन से सिहरती सृजन - नाश - हिलोर !
तुम प्रबल दिक् - काल - धनु - धारी सुधन्वा वीर;
तुम चलाते हो सदा चिर चेतना के तीर !

क्या बिगाड़ेगा तुम्हारा, यह क्षणिक[illegible]रे यह
क्या समझते हो कि होगे नष्ट तुम[illegible] काया;
यह निपट आतंक भी है भीति-[illegible]ल है,
और तुम ? तुम हो चिरन्तन अभयत[illegible]
एक क्षण को भी न सोचो कि त[illegible] होगे नष्ट;
तुम अनश्वर हो! तुम्हारा भ[illegible]थ है सुस्पष्ट!

चिर विजय दासी तुम्हारी, तुम जयी उद्बुद्ध;
क्यों बनो हतआश तुम, लख मार्ग निज अवरुद्ध ?
फूँक से तुमने उड़ायी भूधरों की पाँत;
और तुमने खींच फैंके काल के भी दाँत;
क्या करेगा यह बिचारा तनिक-सा अवरोध ?
जानता है जग: तुम्हारा है भयंकर क्रोध!

जब करोगे क्रोध तुम, तब आयेगा भूडोल,
काँप उट्ठेंगे सभी भूगोल और खगोल;
नाश की लपटें उठेंगी गगन - मण्डल बीच;
भस्म होंगी ये असामाजिक प्रथाएँ नीच!
औ' पधारेगा सृजन कर अग्नि में सुस्नान;
मत बनो गत आश! तुम हो चिर अनन्त, महान्!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
९ फ़रवरी, १९४४

■

यद्यपि तुम स
सतत लोक-स

तुममें सृजन-शवि
छिन दरसावत सि

ये आये ! ये आये !!

ओ तुम आये, पाण आये, भस्मक ये आये, ये आये !
लाज गरज... घर्घर करते ये नभ में मँडराये,
भस्मक ये आये, ये आये !!

अरे, कौन कहता है इनको वायुयान नभचारी ?
किसने कहा : हुई हैं मानव-क्रीड़ा गगन-विहारी ?
हरण-मरण के पंख लगाये भीषण मृत्यु पधारी !
आज, जगत् में त्राहि-त्राहि के करुण, भीत स्वर छाये;
भस्मक ये आये, ये आये !!

पवन-यान हैं अन्तरिक्ष में, हैं शतघ्नियाँ नीचे;
नर क्या करे ? श्रवण निज मूँदे ? या निज लोचन मींचे ?
इस प्रज्वलित जनोद्यम-रथ को कैसे कोई खींचे ?
सर्वनाश ने आज चतुर्दिक् अंगारे बरसाये;
भस्मक ये आये, ये आये !!

क्या मानव की प्रगति-कथा की इति का अब यह अथ है ?
क्या उसके लीलान्त-काल का यह उपहास अकथ है ?
लगता हिय हारा-सा मानव; उसका तन संश्लथ है !
उसने अपने हाथों अपनी इति के साज सजाये !
भस्मक ये आये, ये आये !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१७ जुलाई, १९४३

■

ऐसा क्या हमें अधिकार ?

क्या हमें अधिकार ? ऐसा क्या हमें अधिकार,
कि हम दरसाते रहें निज अचिर हृदय-विकार ?
ऐसा क्या हमें अधिकार ?

क्यों जगत् को हम सुनावें विकृत अपनी तान ?
क्यों सदा गाते रहें हम दुख-दरद के गान ?
क्यों न जागे आज हममें मानवी अभिमान ?
हम करें चित्रित दिवस निशि क्यों हृदय-अविचार ?
ऐसा क्यों हमें अधिकार ?

आज मानवता हुई है विकट विपदा-ग्रस्त;
आज मानव हो रहा है भीति से संत्रस्त;
आज संस्कृति-सूर्य, देखो, हो रहा है अस्त;
क्यों करें ऐसे समय हम दैन्य का विस्तार ?
ऐसा क्या हमें अधिकार ?

आज, आओ, हम करें भय-हरण-रण-हुंकार;
गूँज उट्ठे आज चहुँ दिशि जागरण-हुंकार;
जग सुने अब सुप्त काली नाग की फुंकार;
आज जग देखे कि हम हैं शक्ति के आगार,
हम हैं चिर विजय-आधार !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१८ जून, १९४३

■

यद्यपि तुम स
सतत लोक-स

तुममें सृजन-शवि
छिन दरसावत र्दिपरवश, डग-मग-पग मानव ?

ओ तुम्स्वश, प्राणग-पग मानव,
लादे चला जा रहा सिर पर, अपनी गत संस्मृतियों के शव;
यह परवश, डग-मग-पग मानव ।

स्मृतियों का यह बोझ अपरिमित, यह जर्जर तन, यह दुर्बल मन,
उस पर, यह पथ-चलन निरन्तर;
फिर यह काल-गणन-श्रम क्षण-क्षण;
मार्ग-चलन यह, काल-कलन यह, ये चिर देश काल के बन्धन,
ऐसे नियति-वृत्त में विजड़ित, मन है भ्रमित, वचन हैं नीरव;
है परवश, डग-मग-पग मानव ।

कहाँ-कहाँ की सुध-बुध आकर तन, मन, प्राण शिथिल कर जाती,
तममय, विस्मृत काल-कक्ष में वह चुपके दीपक धर जाती;
भर जाती है जीवन-घर में आत्म समय मदिरा मदमाती;
यों जीवन में हो जाता है कर्म-निरति का पूर्ण पराभव;
यह परवश, डग-मग-पग मानव ।

मिला कर्म का बोझ मनुज को; फिर, स्मरणों का बोझ मिला यह;
दो-दो भार कहाँ तक ढोवे यह दुर्बल तन मानव अहरह ?
स्मरण इधर; है उधर कर्म-रण; दोनों आज हुए हैं दुर्वह;
अरी नियति, तू ने मानव के हिय में क्यों सुलगाया यह दव ?
है परवश, डग-मग-पग मानव !

जो ग्रीवा, अग्रिम-दर्शन-हित, अग्रिम-अभिमुख थी बेचारी,
वह मुड़ गयी आज पीछे को बरबस, परवश-सी, हिय-हारी !

हाँ, यह मानव ही दोषी है; यह उसकी [illegible] रे यह
अरे, अन्यथा क्यों बन जाता उसका यह [illegible] काया;
है परवश, ड[illegible] है

आकुल दृग् मीलित हैं; फिर भी वे गत [illegible] निहो[illegible]
आज घटित घटनाओं पर वे अपना सब कुछ वार रहे हैं;
गत का यह अभिषेक हो रहा; दृग् उष्णोदक ढार रहे हैं;
भावी के विचार सोये हैं; जगा आज विगत का वैभव;
है स्मृति-वश, डग-मग-पग मानव !

आज याद आयी मानव को अपनी सुन्दर बिटिया रानी,
वह हिय की लघु कणिका जिसकी प्यारी है हर-हर नादानी;
मानव देख रहा – लेटी है वह विवर्ण, रुग्णा, कल्याणी !
ऐसे क्षण, बोलो, वह कैसे सुने क्रान्ति का गर्जन भैरव ?
यह स्मृति-वश, डग-मग-पग मानव !

मानव देख रहा है अपने प्राणों की पुतली के लोचन,
मानव देख रहा है अपनी कमलाक्षी का वारि - विमोचन !
और, हो रहा है मानव के हिय का स्फुरण और संकोचन;
ऐसे क्षण, वह कैसे सोचे क्या कर्त्तव्य, कर्म ? क्या विप्लव ?
है स्मृति-वश, डग-मग-पग मानव !

पर, मानव ने लखी विवशता; उसने देखे बन्धन अपने;
और लगा वह दाँत पीसने; उसके लगे होंठ भी कँपने;
मानव की आँखों के आगे लहराये भावी के सपने !
और, किटकिटा कर वह दौड़ा करने नाश, सृजन नित नव-नव !!
धीर चरण, रण-रत, यह मानव !!

केन्द्रीय कारागार, बरेली
८ जून, १९४३

■

यद्यपि तुम स
सतत लोक-सं

तुममें सृजन-शक्ति
छिन दरसावत सि

ओ तुम प्राण
सहत

मेरे साथी अज्ञात नाम

थी, अज्ञात नाम,
तुमको मेरे शत-शत प्रणाम।

तुम एक ध्यान, तुम एक ज्ञान,
तुम एक आन, तुम एक बान,
तुम इक उफ़ान, तुम इक उड़ान,
तुम गति -निधान, तुम चिर प्रयाण;
तुम इस निरन्त यात्रा - पथ के
कटिबद्ध चिरन्तन सहयात्री,
तुम रथ - विहीन, तुम निःसम्बल,
तुम निःसाधन, तुम करपात्री,
तुम दीप्त दृष्टि, तुम नव विसृष्टि;
जग का करने भय - भार - हरण,—
आये ये तुम नव रँग - राते,
मुद-मद - माते, चिर नग्न चरण
अपने को करने स्वयं हवन
आये थे तुम अज्ञात नाम,
तुम नाचे यज्ञ - हुताशन में;
तुमको मेरे शत - शत प्रणाम।

मिट गया तुम्हारा मूर्त्त रूप,
कुछ भी न रहे तव चिह्न शेष,
तुम तो इतने निस्पृह निकले,
छोड़ा न रच भी नाम - लेश;
अपना सब कुछ तुम होम चले;
यश, कीर्त्ति, नाम सब, हुए लुप्त,

पर, चमके तुम जग - नयनों में ... रे यह
जागृति-द्युति-कण बन ... काया;
देखो, कृतज्ञ इतिहास आज ... है
लाया है ये संस्...
कर रहा समुद वह संशोधित
अपने विवरण की ...णिक भूल।
मानवता का यह प्रगति - चक्र
तुम बिन कब घूमा एक याम ?
मेरे साथी, अज्ञात नाम,
तुमको मेरे शत - शत प्रणाम।

थे तुम्हीं न, जिनने सर्व प्रथम
विद्रोहों का सन्देश सुना ?
थे तुम्हीं न, जिनने जीवन में
कण्टकित मार्ग का क्लेश चुना ?
थे तुम्हीं बढ़े लेने उत्सुक
इस महा निष्क्रमण का प्रसाद;
तुमको न चलित कर सका कभी
विद्वानों का व्यवहार - वाद;
पथ की कण्टक - कीर्णता अमित,
बोलो, तुमको कब डरा सकी ?
मग की बीहड़ - सी अनन्तता
बोलो, तुमको कब हरा सकी ?
थककर, उकताकर, कातर हो,
तुम कब चिल्लाये 'अरे राम !'
तुम तो बढ़ते ही गये, वीर,
तुमको मेरे शत - शत प्रणाम।

यद्यपि तुम स
सतत लोक-सं
को तुम बना गये
तुममें सृजन-शवि पाहन की गहरी अमिट रेख,
छिन दरसावत रि ने चलना सीखा
तुमको यों चलते देख - देख !
ओ तुम तुमने प्राण विश्रान्ति कहाँ ?
सहत तुमको तो बस धुन रही एक;
तुम कभी थके यदि, तो, पथ पर
रह गये लकुटिया रंच टेक !
देखी न दुपहरी औ' निशीथ,
तुमने कब देखी धूप - छाँव ?
अवकाश मिला कब तुम्हें कि तुम
लखते छाले, जो पड़े पाँव ?
दिन - रात चले, हर घड़ी चले,
तुम सुबह चले औ' चले शाम,
चलते ही चलते लुढ़क पड़े
पथ पर तुम, ओ अज्ञात नाम ।

यह पथ अनन्त, यह पथ दुर्गम,
जिसका न कहीं है ओर - छोर;
यह पथ, विकराल काल - अर्णव
घहराता जिसकी उभय ओर !
यह पथ, जिस पर मँडराती हैं
घनघोर मरण - घड़ियाँ अथोर !
यह पथ, जिसके उस छोर कहीं
है लक्ष्य मनोहर, चित्त चोर;
ऐसे इस पथ के कण - कण में
सींचा तुमने निज रक्त, स्वेद ।

तुम बढ़े, मिटाने मानव के ारे यह
मन का युग - युग का काया;
तात्कालिक फल की आशा से ल है
कब चलित हुए तुम, म
थे निःस्पृह कर्म उपासक तुम;
तुमको मेरे शत - ि प्रणाम।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
३० मई, १९४३

■

नरक के कीड़े

कुछ लोग नरक के कीड़े हैं, वे कायर हैं, दुर्बल-मन हैं;
जो नारी पर विष-वमन करें, ऐसे भी इस जग में जन हैं!

जो नारी को चंचल कहकर हर घड़ी कोसते रहते हैं,–
जो नारी की कामुकता की गाथा ही अह निशि कहते हैं,–
वे हैं पाखण्डी कामुक, जिनको स्त्री ने ठुकराया है;
जिनके पापों से नारी ने अपने को कभी बचाया है!
वे ही अब बनकर कलाकार करते नारी पर फन-फन हैं;
वे लोग नरक के कीड़े हैं; वे कायर हैं, दुर्बल मन हैं!

जो नारी में कामुकता ही देखें वे भी क्या मानव हैं?
वे तो हैं बस चाण्डाल अधम, वे तो बस पूरे दानव हैं!
उनको नारी ने दी ठोकर, इससे चिढ़ है उनके मन में;
औ' चले लगाने कालिख वे नारी के चरित सुहावन में!

यद्यपि तुम स
सतत लोक-सं
हैं कि हमीं कर रहे कला का प्रणयन हैं;
तुममें सृजन-शक्ति-वमन करे, धिक् है! ऐसे भी जग-जन हैं!
छिन दरसावत रि

ओ तुम ... प्राण
ये पामर भूल सहते हैं क्या; ये भी नारी के जाये हैं?
अपने शरीर-मन-प्राण सभी इनने नारी से पाये हैं!
नारी के बिन तो थे ये सब कुछ मूत्र-कीट का गुच्छ, अहो!
नर बन निकले, तो नारी पर करते प्रहार ये तुच्छ, अहो!!
ये हैं कृतघ्न, ये हैं कायर, ये निरे बुद्धि के वामन हैं,
ये लोग नरक के कीड़े हैं, दुर्बल मन हैं, दुर्बल तन हैं!

नारी ने ठुकराया, तो अब, ये गढ़ते एक कहानी हैं,
जिसमें निज को ये दिखलाते संयमी और विज्ञानी हैं!
जो कभी भाग्य में नहीं बदा, उसको ही ये दिखलाते हैं;
ये घोंघे, निज कल्पित तप से नारी का हिय पिघलाते हैं!
फिर उसको गाली देते हैं; यों समझाते अपना मन हैं,
ये लोग नरक के कीड़े हैं, ये कायर हैं, दुर्बल तन हैं!

असफल, कलुषित वासना भ्रष्ट, बन गयी ग्रन्थि इनके मन की,
ये लगे कोसने नारी को, सुध भूले ये माँ के स्तन की!
प्रत्यक्ष रूप में नारी को कर सके न कभी पराजित ये,
तो क़लम-कुल्हाड़े से उसको करते हैं खण्ड-खण्ड नित ये?
निज माताओं का यों ही क्या ये पामर करते तर्पण हैं?
ये षण्ढ, नरक के कीड़े हैं, ये कायर हैं, दुर्बल मन हैं!

ऐ बौनो, नारी को देखो, वह पत्नी है, [illegible]रे यह
वह हिय की कणिका बेटी है; वह जग की भ[illegible] काया;
वह महाशक्ति का मूर्त्त रूप, वह परम भ[illegible]ल है,
वह सृजन-ब्राह्म क्षण की पावन सुन्दर [illegible]
ओ मार्ग भ्रष्ट तुम कलाकार, क्यों बन्द [illegible]रे लोचन[illegible]
क्यों हृदय तुम्हारे कलुषित हैं ? क्यों दूषित [illegible] अभिव्यंजन हैं ?

कहते हो नारी चंचल है ? पर तुम क्या हो ? कुछ बोलो तो ?
अपने ही पलड़े पर, आओ, अपने मन को कुछ तौलो तो ?
यों ललित कलाश्रय लेकर तुम, क्यों फैलाते अविचार, अरे ?
इस पावन देव-धुनी में तुम क्यों छोड़ो गन्दी धार, अरे ?
हैं नहीं, अरे, यह ललित कला, यह तो मल-मूत्रविवेचन हैं
यह ख़ूब समझ लो तुम-जैसे मानवता के बैरी जन हैं !!

मानवता को मत दो धोखा अपने को तुम मत धोखा दो !
तुम अपने मौन-पराजय को यों भुलने का मत मौक़ा दो !
नारी है चिर प्रेरणामयी, नारी है पावन स्नेह रूप;
इस पूर्ण पुरातन सिरजन में नारी ही है नित नव, अनूप ।
जिन ने जग को रस-दान दिया, वे नारी के लोचन-कण हैं
जो कायर नारी को कोसें वे पामर हैं, दुर्बल मन हैं !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१७ दिसम्बर, १९४३

■

यद्यपि तुम सन
सतत लोक-सं

तुममें सृजन-शक्ति
छिन दरसावत स

चिन्ता ?

ओ तुम जन प्राणियों की सब चिन्ताओं का भार लिये,
चला जा र सहते यह मानव मन में एक बुखार लिये;
आज, तीसरे पहर, उठी है चौथे की अतुलित चिन्ता,
आये हैं असफलित मनोरथ जीवन - भर की हार लिये !

माया मिली न जन - वैभव की, मिले न राम लोक-सुख के,
आ पहुँचा अपराह्न काल यह, फटे न दल बादल दुख के;
अर्घ्य दे रहा है अस्तंगत रवि को यह मानव प्राणी,
आज मुड़े हैं पश्चिम दिशि को दृग् इस प्राची-अभिमुख के !

देख रहा है मानव अपना जीवन-क्रम निःसार निरा;
देख रहा है वह अपना नभ अन्धकार से घिरा-घिरा;
देख रहा है निज कर्मों का, वह, मुरझाया - सा पौधा;
अनुभव करता है वह, जैसे, उसका मन है गिरा-गिरा !

हुआ तीसरा पहर, और अब सन्ध्या भी आने को है,
खेत और खलिहानों की यह ढली धूप जाने को है;
कहीं घोंसला नहीं बनाया, सोच रहा है यों पंछी,—
पच्छिम के सागर में सूरज जब कि डूब जाने को है।

साँझ-बसेरा कहाँ करोगे ? पूछ रहा है यों संशय;
नैशयाम कैसे काटोगे ? पूछ रहा यों हिय का भय;
दाने की क्या आशा है ? यों पूछा दूरदर्शिता ने;
और, कहाँ पाओगे पानी ? बोला यों स्वभाग्य निर्दय !

इन प्रश्नों को सुनकर, मानव एक निमिष को खिन्न हुआ,
किन्तु दूसरे ही क्षण उसका सब भय-संशय छिन्न हुआ;

क्या निद्रा, भोजन, भय, मैथुन, यही भाव [illegible] रे यह
क्या न शुद्ध मानव स्वभाव है पशुओं से कु [illegible] काया;
[illegible] ल है

क्यों निराश हो मानव-प्राणी ? जीवन [illegible]
स्वाहा ! स्वाहा ! की ध्वनि से जो झि [illegible] हं अज्ञ [illegible]
कहो, बढ़ी मानवता आगे कब बिन [illegible] बलिदानों के ?
अरे, स्वकर्म-फलों की आशा करना भी है इक विपदा !

सामूहिकता का सुख, वैभव, सामूहिक कल्याण परम,—
इनको तो हैं नित्य अभीप्सित वैयक्तिक बलिदान चरम !
इस साधना कठोर, घोर, में बीता है जिसका जीवन,—
क्यों, चौथेपन में भी, उसके, कहो अटपटे पड़ें क़दम ?

जीवन है यदि एक खेल, तो क्यों न शान से सब खेलें ?
अपने हिस्से में जो आये, हँस-हँस उसे न क्यों ले लें !
अगर तुम्हारे हिस्से में है आन पड़ी यह सैनिकता—
तो, चिन्ताएँ आज तुम्हारे पथ से तुमको क्यों ठेलें ?

होता है परिगणित युगों में जन-समाज अस्तित्व जहाँ,—
शत-शत कल्पों तक फैला है सामूहिक व्यक्तित्व जहाँ—
वहाँ एक जीवन की चिन्ता तुमको क्यों हो, बोलो तो ?
कहो ? निभाओगे क्या यों ही तुम अपना दायित्व यहाँ ?

रैन-बसेरा नहीं मिले यदि, तो पथ में ही पड़ रहना,
बिना वस्त्र, यदि ठण्ढ लगे तो यों ही, यार, अकड़ रहना !
सुबह देखकर लोग कहेंगे : लो, यह तो था वह यात्री !
पर, जीते-जी कातर होकर, तुम मत दीन वचन कहना !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१५ अप्रैल, १९४४

■

यद्यपि तुम स

सतत लोक-सं

तुममें सृजन-शवि

छिन दरसावत ि

ओ तुम ा प्राण

सहत

सैनिक, बोल !

सैनिक, रगो में तेरी,
शोणित ा ठण्ढा पानी ?
बतला, तेरे जीवन में है
लुंज बुढ़ौती या कि जवानी ?

यदि तेरी नस-नस में बहती
वेमवती शोणित की धारा, –
राख हुआ है नहीं अभी यदि,
तेरे यौवन का अंगारा,–

तो क्यों झाँक रही है तेरे
नयनों से यह निपट निराशा ?
तू क्यों है उदास निज मन में ?
क्यों मुरझी है तेरी आशा ?

निकला था तू जब कि जूझने
धारण कर सैनिक का बाना, –
जब कि बज उठा था रण-धौंसा,
जब गूँजा था युद्ध-तराना, –

तब क्या तुझसे कहा गया था
कि हैं सुमन ही तेरे मग में ?
क्या तुझको यह ज्ञात नहीं था
कि हैं शूल अगणित मारग में ?

फिर, यदि आज चुं[illegible] यह
तो तू क्यों अकुलाये [illegible] काया;
समझ - बूझ कर ही [illegible] है
तू सम्मिलित हुआ [illegible]

है तेरा रण पुण्य - प्रणोदक,
तेरा रण जन - मंगलकारी,
तेरा जीवन नित्य निवेदित,
तेरे कर्म अभय - संचारी;

देख रही है यह मानवता
आतुरता से तेरी गति - विधि,
क्षण - क्षण तुझे निहार रहे हैं,
ये सब बूढ़े भूधर, वारिधि;

तेरा ही मुँह देख रहे हैं
धरती के सब पाहन, जंगल,
उझक निहार रहे हैं तुझको
सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, खमण्डल !

प्रगति - प्रेरणा चिन्तातुर - सी
देख रही है तेरे पग - डग;
और विकास निहार रहा है
तेरा यह ऊँचा - नीचा मग;

अरे, हुई हैं तुझमें केन्द्रित,
इस विसृष्टि की सब आशाएँ;
तुझमें ही तो मूर्त हुई हैं
ऊर्ध्व - गमन की अभिलाषाएँ;

तू ही है प्रतीक, ओ सैनिक,
जन - विकास - नोदना - व्यथा का,
तू ही पुंजीभूत रूप है
सिरजन की इतिहास-कथा का !

दुर्निवार युग-धर्म विकट ने
जब अपना सन्देश सुनाया,–
तब तू ही तो था जो उत्सुक
बढ़कर था सुनने को आया ?

बोला था युग - धर्म कि सुन लो,
पथ में अंगारे बरसेंगे !
तब तू बोला था कि "अरे हम,
उस बरसा में भी सरसेंगे" !

तब क्यों दिखलाई दे तेरे
मुख पर आज त्रास की छाया ?
भावी - दर्शन - शील - दृगों में
तेरे क्यों नैराश्य समाया ?

तू ने खोले अपने लोचन
औ़र अँधेरा डर कर भागा;
तू गरजा जय - जय - ध्वनि करके,
औ' प्रभात सोते से जागा;

तू ने तौलीं अपनी बाँहें,
औ' कायरता थर - थर काँपी;
तू ने अपने एक चरण में
बाधाओं की सीमा नापी;

तू है चिर अवरोध ... यह
तू मानव - कल्याण ... काया;
तू ही है जन - गण ... है
तू भैरव - छन्दों ...

अवरोधों के क्षणिक रूप का
क्या तुझको कुछ पता नहीं है ?
बाधाओं का तुंग शैल भी
अति अलंघ्य क्या हुआ कहीं है ?

तेरे चरणों की ठोकर से
मिले धूल में शैल अनेकों,
तू क्यों निज बल - विक्रम भूला ?
तू क्यों भूला है अपने को ?

पथ के अमित धूलि - कण साक्षी
हैं तेरे पर्वत - मर्दन के !
औ' तेरे पद - तल साक्षी हैं
क्षुर - धारा पर तव नर्तन के !!

अवरोधों के अग्नि - शैल जो
तेरे सम्मुख आज खड़े हैं,—
ये प्रज्वलित प्रखर अंगारे
जो तव पथ में आन पड़े हैं,—

ये आये हैं तुझे बनाने
एक बार फिर अग्नि - परीक्षित,
ये आये हैं करने तुझको
फिर से जीवन - रण में दीक्षित;

यद्यपि तुम सन्तत
सतत लोक-संग्राह

तुममें सृजन-शक्ति
छिन दरसावत सिरज

ओ तुम महा प्राण क
जग ... ह्त नि

कर उल्लंघित और विमर्दित
ये पर्वत, ये आग - अँगारे,
क्यों न आज तू गरज - गरज कर
निज आग्नेय मन्त्र उच्चारे ?

क्या न सु... ने अन्तर की
चिदाकाश वाणी का गर्जन ?
क्या न सुना तू ने अब तक भी
वह गभीर, भय - हारी तर्जन ?

सुन, रे, सुन वह मन्द महा-ध्वनि
तुझे दे रही आज निमन्त्रण,
गूँजा है सन्देश कि "सैनिक
तोड़ !! अरे हाँ, तोड़ नियन्त्रण !!

बन उन्मुक्त, अबाध, अनिगित;
सोच न सुख - दुख, अरे चला चल,
जीवन-रस में घुले-मिले हैं
मधुर अमिय औ' तीव्र हलाहल !"

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१७ जुलाई, १९४४

■

ओ मज़दूर किसान, उठो

उठो, उठो ओ नंगो भूखो
ओ मज़दूर किसान, उठो,
इस गतिमय मानव - समूह के
ओ प्रचण्ड अभिमान, उठो।

आज मुक्ति के अरमानों ने [illegible]रे यह
मिलकर यों ल[illegible] काया;
ओ सब सोने वालो, जागो, [illegible]ल है,
गूँज रहा [illegible]
कैसी रात? कहाँ के सपने [illegible]
यह नव प्रा[illegible]धारा है!
ऐसे हँसते-से प्रभात का
तुम करने सम्मान, उठो,
उठो, उठो ओ नंगो भूखो,
ओ मज़दूर किसान, उठो,

ले प्राणों के फूल करों में,
हिय में अमित उमंग भरे,—
कन्धों पर ले विजय-पताका,
नयनों में रण-रंग भरे,—
नवल प्रात के स्वागत को तुम
चलो वीर निश्शंक, अरे;
क्या भय? क्या डर? आज झिझक क्या?
ओ मानस सन्तान उठो!
उठो, उठो ओ नंगो भूखो,
ओ मज़दूर किसान, उठो।

शतियों के आदर्श तुम्हारे
मूर्त रूप धर आये हैं;
नव समाज के नवल सृजन का
नया सँदेसा लाये हैं;
दिशि-दिशि में समता-स्थापन के
ये अभिनव स्वर छाये हैं;

यद्यपि तुम सन्तत

सतत लोक-संग्राहक

के नव विधान हित

तुममें सृजन-शक्ति

तुम करने बलिदान उठो;

छिन दरसावत सिरजन

ओ नंगो भूखो,

ओ मज़दूर, किसान, उठो।

ओ तुम मद्रा प्राण कर

जग को ... प्रहृत नि

अब न आ सके रात भयंकर
ऐसा कुछ गति - चक्र चले;
फिर न अँधेरा छाये जग में
चाल न कोई वक्र चले;
चमके स्वतन्त्रता का सूरज,
परवशता का अभ्र टले;
शोषण के शासन की इति हो,
तुम ऐसा प्रण ठान, उठो,
उठो, उठो ओ नंगो भूखो,
ओ मज़दूर किसान, उठो।

सभी ओर तव भुज-बल-अंकित,
पृथिवी देखो, हल देखो,
निखिल विश्व के यन्त्र-तन्त्र में
तुम अपना कौशल देखो;
भू-मण्डल के सिरजन में तुम
अपनी चहल-पहल देखो;
ज्योति जगाते, भीति भगाते,
ओ तुम शक्ति-निधान, उठो;
उठो, उठो ओ नंगो भूखो,
ओ मज़दूर किसान, उठो।

तुमने पीकर गरल, जगत को — [illegible]रे यह
मधुरामृत का [illegible] काया;
शीतल हुआ जगत, जब तुमने [illegible]ल है
प्रलय-अग्नि का [illegible]
मरण-वरण कर तुमने सब को [illegible]
नव जीवन, न[illegible]ग, दिया;
बहुत पिया विष; अमृत पियो अब,
त्यागी वीर महान्, उठो;
उठो, उठो ओ नंगो भूखो,
ओ मज़दूर किसान, उठो।

सुलगा दो निज अन्तर्ज्वाला,
विकट लपट लम्बी धधके,
होवे भस्म दासता, शोषण,
ऐसी यह होली भभके!
हो जाओ तुम मुक्त, कि विहँसें
ये सब तारागण नभ के;
दुर्निवार तुम, सदा मुक्त तुम,
करो विजय के गान, उठो;
उठो, उठो ओ नंगो भूखो,
ओ मज़दूर किसान, उठो।

किसका साहस है कि रख सके
तुमको यों चिर बन्धन में?
स्वयं मुक्ति ही नाच रही है
सदा तुम्हारे स्पन्दन में!

यद्यपि तुम सन्तत
सतत लोक-संग्राह
लव अन्तर्हित है,
तुममें सृजन-शक्ति जैसे ज्वाला चन्दन में;
छिन दरसावत सिरजे तुम्हें विश्व यह
ओ जग के बलवान, उठो;
ओ तुम महा प्राण करु ठो, ओ नंगो भूखो,
जग हत नि ओ मज़दूर किसान, उठो।

केन्द्रीय कारागार, बरेली
२६ जुलाई, १९४३

■

अरी धधक उठ

निगड़ - बद्ध तन तपःतप्त हो,
जटिल शृंखलाएँ ये टूटें,
असम्भावनाओं को दृढ़ता के
रह - रह करके छक्के छूटें,

सिंह - द्वार मरण - जीवन का
आज मुक्त हो जाये, सजनी
आज उगा दे सूर्य नया तू
हो अब शेष अमा की रजनी!

कर दे भस्म शृंखलाओं की
ये सब कड़ियाँ न्यारी - न्यारी।
अरी, धधक उठ, धक - धक कर तू,
महानाश की भट्ठी प्यारी!

गतानुगति की, परिपाटी की [illegible]रें यह
मूढ़ प्रथाएँ घुसी हुई ये – [illegible] काया;
धर्म-बेलि की पत्ती-पत्ती [illegible]ल है,
बना रही हैं छुई-मुई ये, – [illegible]

आग, लपक कर [illegible] खींच ल
तू अपनी ग[illegible] में, रानी,
आ, झकझोर मूढ़ता को तू
कर भस्मावशेष, कल्याणी,

तू मत देख, धड़कने दे री,
इस हिय की धुकधुकी बिचारी।
ख़ूब धधक उठ, धक-धक कर
तू महानाश की भट्ठी प्यारी।

जड़ता बनी धर्म का भूषण,
शठता आचार्या बन बैठी,
भूत दया का रूप धरे यह
निपट नपुंसकता है ऐंठी;

सामाजिक औदास्य – भावना
बनी भाग्य का फेर निराला,
निरुत्साह, दौर्बल्य, भीति का
पड़ा हुआ है उर पर पाला

कर दे नष्ट आज सदियों का
संचित यह कुभाव अविचारी।
अरी, धधक उठ; धक-धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

यद्यपि तुम सन्तत
सतत लोक-संग्राह
ण्ड, नेह-पय-पालित
तुममें सृजन-शक्ति को, माताएँ –
छिन दरसावत सिरज चढ़ा देने को
र्पित कर जायें।

ओ तुम सदा प्राण करु
जग प्रहत निभर जायें विस्मृत प्रांगण के
कोने-कोने में वैरागी –
जिनकी आँखों में मस्ती है
होंठों पर स्मिति-रेखा जागी;

सिर पर क़फ़न बाँध आ जायें
आहुति देने विकट प्रहारी।
अरी, धधक उठ, धक-धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

आज सुलग ऐसी की कहीं भी
लौ का ओर न छोर रहे री,
उदधि सलिल – सी लहरें-लपटें
पुंजीभूत कृशानु बहे, री,

हँस-हँस कर तू, अरी हसन्ती,
अन्त अनन्त सृष्टि का कर दे,
तू माता की वत्सलता की
विमल वृष्टि में लपटें भर दे,

बस कठोरता और ज्वलन का
तव आदेश रहे भयहारी!
अरी धधक उठ धक-धक कर तू –
महानाश की भट्ठी प्यारी।

शत-शत सुख की अभिलाषाएँ [illegible] यह
छिन में क्षार-क्षार हो जायें, [illegible] काया;
सहस हृदय की दुर्बलताएँ [illegible] है
एक निमिष भर में खो जायें; [illegible]

लक्ष-लक्ष लोच[illegible] चमके
प्राणार्पण की [illegible] ज्वाला;
कोटि-कोटि कण्ठों से निकले
सर्वनाश का घोष निराला;

झटक झूम झककोर भस्म कर
तू निसर्ग की तुंग अटारी;
अरी, धधक उठ धक - धक कर तू,
महानाश की भट्ठी प्यारी !

आज सृष्टि संहार-भार यह
तव हिय-हार बना, मतवाली
तेरी इन कराल दाढ़ों में
मृत्यु खेलती है विकराली,

दहन-समस्या की रेखाएँ
हैं तव भाल-देश पर अंकित;
रक्ताकांक्षा से तेरी यह
जिह्वा, कुछ लपकी, कुछ शंकित;

मेरी हृदय-शिला पर कर ले
पैनी अपनी लपट-कटारी;
अरी, धधक उठ, धक-धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी !

यद्यपि तुम सन्तत
सतत लोक-संग्राहक

तुममें सृजन-शक्ति दि
छिन दरसावत सिरजन-

ओ तुम महा प्राण करुण
जग कौ स महत नि

मुक्ति व्याकुलता
निखर उठे कुन्दन-सी,
आदर्श चरण में
आये अभिवन्दन-सी,

करुण क्रन्दन, रण हुंकार भयंकर
दिशि - दिशि, भरता जाये ऐसे—
ज्वालामुखी शैलमाला में
घन – विस्फोट भरा हो जैसे,

एक-एक चिनगी बन जाये
अभिनव जीवन की संचारी;
अरी, धधक उठ धक-धक कर तू,
महानाश की भट्ठी प्यारी।

मान और मर्यादा छूटी,
बिखर गयी गरिमा क्षण-भर में,
रण - हुंकार - कारिणी क्षमता
लुप्त हो गयी है अम्बर में,

गिरि-गह्वर में, वन-उपवन में
अथवा किसी शून्य प्रान्तर में—
डोल रहे हैं कुछ दीवाने
ले आशा-प्रदीप निज कर में,

कब से खोज रहे हैं तुझको
सर्वनाश की ओ चिनगारी;
अरी, धधक उठ धक-धक कर तू,
महानाश की भट्ठी प्यारी।

आज, सव्यसाची का खाण्डव ... रे यह
विपिन-दहन फिर से दिखला दे, ... काया;
अग्नि-कुमारों को तू फिर से ... है
तनिक वह्नि-क्रीड़ा सिखला दे; ...

दिखला दे कि म... वन है,
रण प्रांगण भ... गीता है;
सिखला दे कि अनन्त शान्ति यह
केवल तुझ से परिणीता है,

तेरी अनुगामिनी बनी है
नव प्रभात ऊषा सुकुमारी;
क्यों झिझके, री, धधक-धधक, तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

जल, थल, शून्याकाश अग्नि का
कुण्ड बने विकराल भयंकर,
वर्तुल महा व्योम कक्षा यह
बने उसी की परिधि निरन्तर;

महाकाल निज भाल नेत्र फिर
खोलें आग लगे प्रलयंकर;
सर्वभक्षिणी लपटें उट्ठें
धधके मानव का अभ्यन्तर;

कर्म-अलसता औ' कायरता
सब जल जायें बारी-बारी।
अरी, धधक उठ धक-धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

यद्यपि तुम सन्तत ए
सतत लोक-संग्राहकर

तुममें सृजन-शक्ति वि री, धू-धू करती,
छिन दरसावत सिरजन हुंकार मचा दे,
के फूलों से
ओ तुम महा प्राण करुण आन रचा दे,
जग कौ स सहत नि अरी, नचा दे अपनी लपटें
इधर-उधर सब ओर निराली;
करुण काली की जिह्वा-सी लपके
लप-लप करती लौ मतवाली;

धुआँ उठे, पाखण्ड जल उठे
हिम धधके, देखें त्रिपुरारी,
अरी, धधक उठ धक-धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

अम्बर से अंगारे बरसें,
जलद धुआँ बनकर मँडरायें,
वज्रघोष से सुप्त रोष की
भौंहें विकराली चढ़ जायें;

अन्तर का विद्रोह फट पड़े
खल-भल कर ज्वलन्त भूधर-सा;
रिक्त गगन बन जाय उलट कर
चण्डी के ख़ाली खप्पर-सा;

भर दे, हाँ खप्पर भर दे तू,
अपनी ज्वालाओं से, आ, री,
आज धधक उठ धक-धक कर तू
महानाश की भट्ठी प्यारी।

■

गड़गड़ाहट गगन-भर में

यह कड़क, यह गड़गड़ाहट, भर गय[illegible]
आज गरजा है भयानक नाश भीष[illegible]ट स्वर में

मृत्यु अति विकराल, दुर्दम,
गगन में मँडरा रही है;
ज्वाल - जिह्वा लपलपाती
मेदिनी पर आ रही है;
चर-अचर को भूनती, वह
सब निगलती जा रही है;
कर रही हुंकार बैठी वह शतघ्नी के उदर में;
और उसका विकट गर्जन भर गया है गगन-भर में !

जनपदों के व्यक्तियों का
है नहीं केवल मरण यह;
है सहस्रों अब्दियों के
संचितों का अपहरण यह;
सर्वनाशों ने सजाया
विप्लवों का उपकरण यह
धँस रही है ध्रुव धरित्री प्रलय के दुर्धर प्रहर में;
आज गरजा है भयानक नाश भीषण, विकट स्वर में

क्या विलक्षण चिह्न है यह ?
कौन गूढ़ प्रकेत है यह ?
क्या किसी नव-नव सृजन का
आगमन संकेत है यह ?

यद्यपि तुम सन्तत

सतत लोक-संग्राहक

तो मानव भ्रमित है;

तुममें सृजन-शक्ति वि ज्ञान, अचेत है यह !

छिन दरसावत सिरजन है गगन, जल, थल की डगर में;

ओ तुम महा प्राण करुयानक नाश भीषण विकट स्वर में।

जग कौ स सहत नि

करुण की चिन्ता किसे है,
यदि बढ़ें जन रंच आगे ?
प्रलय की चिन्ता, कहो, क्या,
यदि उसी से सृजन जागे
किन्तु क्या कुछ बढ़ सकेंगे
हम द्विपद मानव अभागे ?
प्रगति-रथ की बाग होगी क्या किसी के कुशल कर में ?
आज तो यह नाश भीषण गरजता है विकट स्वर में।

ज्वाल में सुस्नात है यह,
अग्नि - पारावार है यह !
सुकृत का, औ' विकृत का,
सत् - असत् का संहार है यह !
हो रहा क्या जग-जनों का
उपनयन - संस्कार है यह ?
द्विज बनाने की क्रिया क्या हो रही है इस अमर में ?
अन्यथा, क्यों आज गरजा नाश भीषण, विकट स्वर में ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली
१५ जुलाई, १९४३

■

दग्ध हो रहे हैं मेरे ज[illegible]ल है

हाय ! इन्हीं आँखों से देखे
ज्वाला में लिपटे मानव-तन
होते भस्मीभूत विलोके
मैंने अपने ही सब जन - गण ।

आज चतुर्दिक् धधक रही है
अति विकराल भूख की होली,
और बनी जन - गण की आँखें
फैली, फटी भीख की झोली !

देखो, छाती पर पत्थर रख,
वह समूह नर - कंकालों का ।
देखो, झुण्ड आ रहा है वह
भूखे, नंगे कंगालों का !

यूँ तो वह आ नहीं रहा है,
वह तो रंच लड़खड़ाता है,
सामाजिकता के पिंजड़े में
पंछी तनिक फड़फड़ाता है !

आज सुन रहा हूँ मैं भीषण
प्राण-हरण का घण्टा घन-घन !
देख रहा हूँ विकट भूख की
ज्वाला में लिपटे मानव-तन !

यद्यपि तुम सन्तत ...
सतत लोक-संग्राहकता

तुममें सृजन-शक्ति वि...
छिन दरसावत सिरजन-...

ओ तुम महा प्राण करुण
जग कौ ...

सड़े भात के लिए श्वान को
औ' मानव को लड़ते देखा,
पति - पत्नी को इक रोटी के
हेतु नितान्त झगड़ते देखा;

मानव सहत नि... को मारा;
कुत्ते ने ... को काटा;
पत्नी ने पति को नोंचा औ'
पति ने एक जमाया चाँटा!

मैंने भूखे शिशु को भूखी
माँ के स्तन चिचोड़ते देखा,
मैंने भूखे शिशु की भूखी
माँ को प्राण तोड़ते देखा!

सुन लो उस शव की छाती से
चिपटे भूखे शिशु का क्रन्दन!
देखो, विकट भूख - ज्वाला में
दग्ध हो रहे हैं मानव - तन!

देखो, भूख-भरी वे आँखें,
देखो प्यास - भरे वे लोचन,
साँस - भरे, उच्छ्वास भरे वे,
दुस्सह त्रास भरे वे लोचन!

याचनार्थ फैली वह हड्डी,
देखो, इसे हाथ कहते हैं!
पथ पर रख के ढेर निहारो,
इसको न्धु - घात हैं कहते हैं!

हम, जो हैं भर ... ... रें यह
अरे वही ... ... काया;
हम जो मौज क... ...ल है
वे ही तो शो...

हमी पातकी हैं कि आज यों
तिल-तिल कर मरते हैं निज जन;
हमीं पातकी हैं कि भूख की
ज्वाला में जलते हैं जन-गण !

हम पत्थर हैं, या कायर हैं
जो यह सर्वनाश लखकर भी–
रच न सके नव सामाजिक क्रम,
ये इतने कटु फल चखकर भी !

क्या यह बात असम्भव थी कुछ
कि सब सूत्र अपने कर होते ?
अपना घर अपना ही होता
यदि हम कुछ कम कायर होते !

तब देखते कि क्षुधा-सिंहनी
इस घर में कैसे मँडराती ?
तब यह शस्य-श्यामला पृथिवी
कंचन क्यों न उगलती जाती ?

किसे दोष दें ? हाय ! बने हैं
चिर अभिशाप-ग्रस्त अपने मन !
इसी लिए, इस भूख - चिता में
दग्ध हो रहें हैं निज जन-गण !

केन्द्रीय कारागार, बरेली
३१ अगस्त, १९४३

■

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसंधान और प्रकाशन
तथा लोक-हितकारी
मौलिक साहित्यका निर्माण

●

संस्थापक

साहू शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा

श्रीमती रमा जैन

●

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी ५